श्री भागवत दर्शन, भागवती कथा खण्ड—८७

गोपालक कृष्ण

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ८७

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

●

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

●

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

●

प्रथम संस्करण १००० } सितम्बर १९७१ आश्विन स० २०२८ { मूल्य : १.६२
संशोधित मूल्य २.०० रुपया

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज इलाहाबाद

विषय-सूची

संस्मरण

[७]

पण्डित जीवनदत्त जी ब्रह्मचारी

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलं
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥*

(भर्तृ० नी० श० ६५ श्लोक)

छप्पय

कर की शोभा दान कही शोभा प्रनाम सिर ।
मुख की शोभा सत्य भुजनि शोभा है रन अरि ॥
हिय की शोभा कही स्वच्छता मुनिनि बताई ।
शास्त्र श्रवन नित कही सुशोभा काननि भाई ॥
सज्जन ढिंग धन है नहीं, धनी बिना धन के भये ।
उनको है ऐश्वर्य यह, अति अमोल भूषन कहे ॥

---

* हाथों की प्रशंसा त्याग से है, सिर की प्रशंसा इसी में है कि वह गुरुओं के पादपद्मों में प्रणत हो, मुख की प्रशंसा सत्य भाषण से है विजयी भुजों की प्रशंसा अतुल बल से है, मन की प्रशंसा स्वच्छ वृत्ति से है, कान वे ही प्रशंसनीय हैं जो शास्त्र श्रवण करें। धन सम्पत्ति के बिना भी ये गुण महत् पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं। उन्हें बाहिरी लौकिक भूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

सहजावृत्ति को सर्वोत्तम बताया है, संसार से कोई सम्बन्ध न रखकर सतत चित्त की वृत्ति भगवदाकार ही बना रहे। संसार न किसी विषय का मन में स्फुरण ही न हो। यही सर्वोत्तम वृत्ति है। भागवत के माहात्म्य में गोकर्णजी ने अपने पिता को उपदेश करते हुए कहा है—"अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा सेवा-कथारसमहो नितरां पिब त्वम्।" दूसरों के दोषों का और गुणों का भी चिन्तन तुम त्यागकर निरन्तर भगवत् सेवा तथा कथा के रस को पीते रहो। यदि ऐसा हो जाय, तो कहना ही क्या? तब तो वृन्दावन ही बन जाय। इसीलिये श्रीमद्भागवत में परमार्थ-निरूपण करते हुए बताया कि साधक को कभी भी दूसरों के स्वभावों की तथा कर्मों की न तो प्रशंसा ही करनी चाहिये और न निन्दा ही करनी चाहिये। क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से विश्व एकात्मक है। वैसे पुरुष और प्रकृति दो हैं। दो होते हुए भी भगवान् तो एक ही हैं, वे ही अनेक रूपों में क्रीडा कर रहे हैं। इसलिये सबको भगवान् का खेल समझकर निरन्तर उन्हीं एक के चिन्तन में निमग्न रहना चाहिये। जो ऐसा नहीं करते। दूसरों के गुण दोषों का विवेचन करते रहते हैं, दूसरों के स्वभाव की निन्दा या प्रशंसा करते रहते हैं, वे अविलम्ब ही अपने यथार्थ परमार्थ साधन से भ्रष्ट हो जाते हैं। क्योंकि वे असत्य का अभिनिवेश करते हैं। सत्य तो एकमात्र भगवान् ही हैं। वे ही क्रीडा कर रहे हैं। उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है, ऐसा भेद करना भी तो उचित नहीं।

यह तो सर्वोत्तम स्थिति है, इसीलिये प्राचीन ऋषि-महर्षि न तो अपने ही सम्बन्ध में विशेष कुछ बताते थे, न दूसरों के ही सम्बन्ध में। वे सदा परमार्थ चिन्तन में ही लगे रहते थे। यह सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है।

यदि ऐसा न हो सके सदा सर्वदा रात्रि दिन ब्रह्माकार वृत्ति न रह सके, तो जो लोग वीतराग महापुरुष हों-जिनका राग द्वेष नष्ट हो चुका है उनका ध्यान करने से उनके पुण्यकर्मों का चिन्तन करने से चित्त स्थिर हो जाता है। ऐसा योगदर्शन में बताया गया है।*

सर्वसाधारण मनुष्य निन्दा प्रिय हैं, दोषदर्शी है, उन्हें दूसरों के दोष देखने मे बडा आनन्द आता है। परचर्चा-परनिन्दा करने और सुनने में उन्हें अत्यधिक रस आता है। किन्तु जो साधक हैं, वे जहाँ तक होता है परचर्चा और परनिन्दा से बचते रहते हैं। दूसरों के परमाणु सदृश भी गुण होते है, तो उनका बखान करते हैं, उन्हें विपद करके अपने हृदय मे धारण करते हैं (परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्। निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्तः कियन्तः) बात यह है कि सदाचारी, वीतरागी पुरुषों के संस्मरण से भी चित्त की शुद्धि होती है। इसीलिये पुण्यश्लोक पुरुषों का प्रात.काल उठकर सबसे पहिले स्मरण किया जाता है (पुण्यानिमा परमभागवतं स्मरामि) ऐसा सभी शास्त्रकारो ने किया है। महाभारत मे पुण्यश्लोक परम भागवतों का ही चरित्र तो है।

हमारे यहाँ सबसे अधिक शब्द कृपण वैयाकरण माने जाते हैं। उनके यहाँ वैयाकरण की परिभाषा ही यह की है, जिसे आधी मात्रा की बचत पर पुत्रोत्सव के सदृश सुख हो वही सच्चा वैयाकरण है (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणाः) परन्तु उन व्याकरण के आचार्यों को भी जब अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का स्मरण करना होता है, तब वे इस परिभाषा की उपेक्षा

---

* वीतराग विषयं वा चित्तम् (योगदर्शन)

कर देते हैं। अन्य शास्त्रों में तो मूल लेखक या मूल रचयिता सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, उससे कम व्याख्याता और उससे भी कम टीका-टिप्पणी कर्ता। किन्तु हमारे व्याकरण शास्त्र मे ठीक इससे उलटा ही है। सूत्रकार पाणिनीय की अपेक्षा वार्तिककार उनकी अपेक्षा भाष्यकार पतंजलि अधिक प्रामाणिक माने जायँगे, तो बहुत से अष्टाध्यायी के सूत्रों मे कुछ प्राचीन व्याकरण के आचार्यों के नाम का उल्लेख कर दिया है। तब वादी कहता है, तुम तो आधी मात्रा के लाघव को ही पुत्रोत्सव के सदृश हर्ष का विषय मानते थे, फिर तुमने इस सूत्र में इन प्राचीन वैयाकरण का नाम क्यों रखा? इसे न भी रखते तो भी सूत्र के अर्थ में तो कोई व्यवधान न पडता? इसका उत्तर देते हैं—"उनका नाम हमने पूजार्थ रखा है।* काम तो चल ही जाता, किन्तु जो पुराने आचार्य हैं, उनकी पूजा तो नहीं होती। उनका नामोल्लेख करके हमने श्रेष्ठ पुरुषों की पूजा की है। अतः प्राचीन पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करना हमारा प्राचीन सदाचार है। जिनके सत्संग मे, जिसके सहवास से हमें सुख मिला हो, सत्-कर्मों की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, उनका गौरव के साथ स्मरण करना यह हमारी प्राचीन संस्कृति है। सहस्रों मनुष्यों मे से कोई एक विरले ही ऐसे होते हैं, जिनके सदाचार से लोगों को प्रेरणा प्राप्त होती है, जिनके गुण अनुकरणीय होते हैं। हमारे पं० जीवनदत्त

---

* जैसे 'वासुप्यापिशले" इसमे 'आपिशलि" कोई प्राचीन वैयाकरण हैं। वादी कहता हैं यहां वा शब्द से ही विकल्प कार्य हो सकता है आपिशलि ग्रहण क्यों किया। कहते हैं पूजार्थ ग्रहण किया "ओतो-गार्ग्यस्य" सूत्र है, यहां ओत शब्द से ही नित्य लोप हो सकता है, फिर गार्ग्यस्य ग्रहण क्यों किया? पूजार्थ। ऐसे बहुत से सूत्र हैं।

जा ब्रह्मचारी ऐसे ही सदाचार सम्पन्न अनुकरणीय गुणों वाले महामानव थे। हमारे साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध था। वे अपने निजी जन थे। उनके संस्मरणों से परमार्थ पथ के पथिकों का सत् प्रेरणा प्राप्त होगी।

जिस समय हमारे ब्रह्मचारीजी पैदा हुए उस समय अलीगढ, बुलन्दशहर के जिलों में आर्य समाज का बडा जोर था। कारण कि स्वामी दयानन्दजी गगाजी के अत्यन्त ही प्रेमी थे। वे प्रायः गगा किनारे ही विचरा करते थे। वे इधर गगा किनारे कर्णवास आदि स्थानों मे बहुत दिनों तक रहे। इसलिये इन जिलों में आर्य समाज का बडा प्रचार रहा। कहना चाहिये यहीं से आर्य समाज का सर्वत्र प्रचार हुआ। नया नया ही प्रचार था। वेदों का ही आधार था। उत्साह, त्याग, उन्नति का आवेश था, इससे उत्साही नवयुवकों का उस ओर झुकाव अधिक हो गया था।

रामघाट से लेकर नरोरा, नरवर, विहारघाट, राजघाट, कर्णवास, भेरिया, अनूपशहर, अवन्तिका, भगवानपुर और उधर पेटपालकी कुटिया तक के सभी गगा किनारे के स्थान बडे ही रमणीक हैं। राजघाट के ही समीप एक गगाजी से थोडे ही दूर बेलोन नाम का एक गाँव है। बेलोन की भवानी उस प्रान्त में बहुत ही विख्यात हैं। सैकडों कोश के यात्री वहाँ भगवती के दर्शनार्थ आते हैं। अब तो पता नहीं वह ग्राम कितना बडा हो गया है, जब मैं भगवती के दर्शनार्थ गया था, तब तो वह बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। भवानी देवी के कारण ही वह इतना विख्यात था। उसमें एक प० हेमराजजी नाम के वैद्य थे। उन्हीं के पुत्र हुए एक प० गगादत्तजी शास्त्री। वे व्याकरण के बड़े उद्भट विद्वान् थे। काशी में प० काशीनाथजी से उन्होंने व्याकरण

पढा और अन्त में कांगडी गुरुकुल में व्याकरण के अध्यापक हो गये। स्वामी श्रद्धानन्दजी से मतभेद होने के कारण, स्वामी दर्शनानन्दजी ने जो ज्वालापुर में गुरुकुल महाविद्यालय स्थापित किया था, उसमे आ गये और अन्त तक उसी में रहे। पीछे वही दण्डी सन्यासी होकर स्वामी शुद्धबोधतीर्थ के नाम से विख्यात हुए। मैंने ज्वालापुर महाविद्यालय में जब वे सन्यास ले चुके थे, तभी उनके दर्शन किये थे। उन्हीं के द्वारा मुझे कनखल के पुल के पास मुक्तिपीठ नामक स्थान गायत्री पुरश्चरण के निमित्त मिला था और उन्हीं की प्रेरणा से मैं घटे भर को नित्य महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों को पढाने के लिये जाया करता था। हमारे प० जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी उन्हीं के शिष्य थे। ब्रह्मचारीजी का जन्म अलीगढ जिले के एक गाँव मे ही हुआ था। उन्होंने अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रणाली से ही व्याकरण पढा था। प० गगादत्तजी शास्त्री से पाँच-६ वर्ष तक नवान्हिक भाष्य पढा था। पीछे इटावा के प० भीमसेन शर्माजी से भी उन्होंने अनेक विषयों का अध्ययन किया। प० भीमसेनजी स्वामी दयानन्दजी के शिष्य हो गये थे। प० गगादत्तजी, भीमसेनजी ये सबके सब आर्य समाज के प्रवाह मे थे, किन्तु उनमे आजकल के आर्य समाजियों की तरह कट्टरता नहीं थी। स्वामी शुद्धबोधजी तीर्थ को मैंने देखा था वे सूर्य को अर्घ्य देते थे। पहिले सनातनी आर्य समाजी पंडितो मे कोई भेदभाव नहीं था। पीछे प० भीमसेनजी, प० अखिलानन्दजी, प० जीवनदत्तजी तथा और भी बहुत से लोग आर्य समाज को छोडकर शुद्ध सनातनधर्मी हो गये थे। ब्रह्मचारीजी ने राजघाट नरोरा के समीप साङ्गवेद विद्यालय नाम की एक छोटी-सी पाठशाला खोली थी। जिसमे विद्यार्थी दण्ड धारण करके, गाँवों से भिक्षा लाकर नित्य हवन करते और ब्रह्म-

चारी जीवन विताते। पीछे ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाले तो नाममात्र को ही विद्यार्थी रह गये। अन्य संस्कृत पाठशालाओं की भाँति वह भी एक काशी की परीक्षा दिलाने वाली पाठशाला बन गयी। पं० भीमसेनजी संस्कृत के दिग्गज विद्वान थे। प्राचीन ढँग के संस्कृत के विद्वान् थे। अँगरेजी कुछ भी नहीं जानते थे। फिर सर आशुतोष-मुकर्जी ने उनकी विद्वत्ता के ही कारण उन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा वेदों का प्राध्यापक बनाकर बुला लिया था। अन्त में वे श्री ब्रह्मचारीजी के ही यहाँ आकर गंगातट पर नरवर पाठशाला में ही रहने लगे। और वहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।

कृष्णतीर्थजी महाराज महीनो श्री ब्रह्मचारीजी की नरवर पाठशाला मे रहे थे। बड़े महाराजजी श्री ब्रह्मचारीजी से अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। श्री ब्रह्मचारीजी का स्वभाव था, वे विद्वानो का, सदाचार सम्पन्न कर्मकाण्डी ब्राह्मणो का, विरक्त साधु-सन्तो का, बहुत अधिक आदर करते थे। जब मैं खुरजा मे पढता था, तब हमारे आचार्य चरण पू० पं० चण्डीप्रसादजी सुकुल प्रायः नरवर पाठशाला में जाया करते थे। तब तक स्यात् नरवर मे मध्यमा तक की ही पढ़ाई होती थी। आचार्य के विद्यार्थियों को वे खुरजा की पाठशाला मे ही भेज देते थे। वहाँ के पढ़े दो भाई सत्यदेव और ब्रह्मदेव हमारे साथ पढ़ते थे। उनसे नरवर पाठशाला की तथा ब्रह्मचारी महाराज की सब बातें हम सुनते रहते थे। सन् २१ के असहयोग आन्दोलन मे मैं बुलन्दशहर जिले के गाँव-गाँव जाकर प्रचार करता था। नरवर भी बुलन्दशहर जिले ही मे है, वहाँ मैं जा नहीं सका तभी तक पकड लिया गया। उस समय हमारा श्री ब्रह्मचारीजी से साक्षात्कार नहीं हुआ था। मैं तो उनकी कीर्ति बाल्यकाल से ही सुनता रहता था। और बुलन्दशहर का कार्यकर्ता होने के कारण वे भी मेरे नाम से परिचित थे। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष परिचय तो तब हुआ जब वैराग्य की झोक मे काशी से साहित्यिक जीवन परित्याग करके विरक्त का वेष बनाकर पैदल गंगा किनारे-किनारे विचरने लगा था।

अहा! वे कैसे मधुमय दिवस थे, कैसा शान्तिमय जीवन था। हृदय में वैराग्य की कैसी-कैसी हिलोरें उठती थीं। क्या-क्या सोचते थे संसारी विषयों से कितनी उपरति थी। किसी साधु के पास गद्दा, तकिया आदि देखते उसी से लड पड़ते थे। अपने त्याग वैराग्य का बड़ा भारी अभिमान था। काशी में ५। ७ उत्साही नवयुवक मेरे साथ रहते थे। जब सबको छोड़-

छोड़कर चला तो दो साथी मेरे साथ-साथ आये। इद्र ब्रह्मचारी और गोविन्द ब्रह्मचारी। इन दोनों ही ने अपना जीवन मेरे लिये अर्पित कर दिया था। ये दोनों गंगा किनारे के गाँवों में से भिक्षा माँग लाते थे, हम तीनों मिलकर भिक्षा करके चल देते थे। उन दिनों चलते रहना ही हमारे जीवन का एकमात्र व्यापार था। हमने "चरैवेति चरैवेति" सूक्त की मानों दीक्षा ले रखी थी।

हमसे कुछ ही आगे-आगे स्वामी रामदेवजी भी चलते थे। उन दिनों उनकी अवस्था बहुत ही छोटी थी, रेख भी नहीं निकली थी १७-१८ वर्ष के रहे होंगे। परन्तु इस अल्पावस्था में भी उनके जीवन में अपूर्व त्याग था। वे सरदी, गरमी तथा वर्षा सभी ऋतुओं में नगे ही रहते थे। केवल एक ही लँगोटी रखते थे, उसी से नहाते थे, उसी को पहिन लेते थे, दूसरी लँगोटी भी नहीं रखते थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज उनके इस अल्पावस्था के त्याग वैराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्हें कई दिनों तक आग्रह पूर्वक अपने यहाँ रोक रखा।

जब हम नरवर पहुँचे उसके एक दो दिन पहिले ही स्वामी-रामदेवजी वहाँ से चल चुके थे। हमारे सम्बन्ध में वे सुनते तो बहुत दिनों से थे ही। जब मिले तो परम आत्मीय बन्धु की भाँति मिले। स्वामी रामदेवजी के त्याग, वैराग्य की बड़ी प्रशंसा करते रहे। खुरजा की पाठशाला के गुरुजी के सम्बन्ध की बातें करते रहे।

मैंने देखा उनमें बड़प्पन का तनिक भी अभिमान नहीं था। जहाँ तहाँ बिना आसन के ही भूमि पर बैठ जाते। दूसरे लोगों को ये बातें बुरी लगती थीं, किन्तु उन्हें मान-अपमान का ध्यान ही नहीं था। मैंने उन्हें इधर-उधर बिना आसन के ही बैठे पाया। खुरजा के बाबूलाल सूरजमल जाटिया तथा और सेठ,

साहूकार, सभी सेवक, विद्यालय की सहायता करते थे, फिर भी संस्कृत विद्यालयों की जैसी सोचनीय अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था नरवर पाठशाला की थी। उन दिनों संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक कह लो, प्रधान निरीक्षक कह लो (क्योंकि उन दिनों संयुक्त प्रदेश भर में संस्कृत पाठशालाओं के एक ही निरीक्षक होते थे,) वे प० काशीनाथजी थे। वे ब्रह्मचारीजी के सात्त्विकी जीवन से नरवर के गंगातट के ऋषि आश्रम-तुल्य स्थान से बडे प्रभावित थे और उन्होंने विद्यालय को यथाशक्ति अधिक से अधिक सहायता दिलाने की चेष्टा की थी। फिर भी इतने लोगों के नित्य भोजन का व्यय एक न एक अभाव सदा बना ही रहता था। कलकतिया नहर (राजघाट नरौरा गंगापुल) का कार्यालय पाठशाला के समीप ही था। पहिले पाठशाला वाले जंगलों से नहर के किनारे से ईंधन काट लाते थे। पीछे नहर के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की। उन दिनों पाठशाला के सम्मुख ईंधन का बडा संकट था। ब्रह्मचारीजी ने कहा—"भैया! देखो, नहर वाले हमें ईंधन काटने से मना करते हैं, अधिकारियों से कहकर हमारे ईंधन की सुविधा करा दो।"

उन दिनों वहाँ का अभियन्ता अधिशायी (इंजीनियर) कोई जैनी थे। मैं उनके समीप गया। उन्होंने बड़ी सभ्यता से बातें की। मैंने बार-बार धर्म और पुण्य की दुहाई दी, तो उन्होंने कहा—"देखिये, मैं तो जैनी हूँ। फिर भी आप आये हैं तो हम पाठशाला के लिये ईंधन का प्रबन्ध करा देंगे।" और उन्होंने, सुना प्रबन्ध करा भी दिया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीजी का समस्त कार्य ईश्वर के भरोसे पर चलता था। कोई चन्दा नहीं, उत्सव नहीं, विज्ञापन नहीं भगवान् सब निर्वाह करते ही थे।

श्री ब्रह्मचारीजी की दिनचर्या प्राचीन ऋषि मुनियों की भाँति आदर्श थी। वे स्वतः विद्यार्थियों को पढ़ाते नहीं थे। पढ़ाने के लिये तो उन्होंने कई अध्यापक रख रखे थे। वे तो केवल विद्यालय की देखरेख रखते थे। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकर्मों से निवृत्त होकर गंगा तट पर चले जाते। जो पाठशाला से उन दिनों आधा मील से कम ही थी। वहाँ एक फूँस की झोपड़ी बना रखी थी। उसमें बैठकर मध्यान्ह पर्यन्त गायत्री मन्त्र का जप करते। फिर मध्यान्ह कृत्य करके आश्रम में आते। उनका भोजन एक विद्यार्थी बनाता। प्रसाद पाकर फिर आश्रम की देख-रेख करते। कुछ सत्संग आदि करते फिर सायंकाल गंगातट चले जाते। ऐसे उनका सम्पूर्ण समय स्वाध्याय प्रवचन में ही बीतता। उनकी पाठशाला के द्वार पर यह उपनिषद् का आदर्श वाक्य अंकित था "स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम" स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करो।

तैत्तिरीय उपनिषद् के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा बतायी गयी है। यहाँ ऋत-सत्य सदाचार-सत्य-यथार्थ-भाषण, तप, दम, शम, अग्निचय, अग्निहोत्र, अतिथि सत्कार, मनुष्यता, सन्तान, धर्माविरुद्ध काम और कुटुम्ब-वृद्धि, इन सबको कर्तव्य बताकर अन्त में कहा है इनके साथ ही स्वाध्याय प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन-प्रधान कर्तव्य है। स्वाध्याय प्रवचन के साथ ये धर्म कार्य करने चाहिये। इस पर सत्यवचा ऋषि ने कहा—"नहीं भाई, एक सत्य का ही आश्रय ग्रहण करो सत्य से बढ़कर कोई परम धर्म नहीं।" इस पर तपो-नित्य नाम के ऋषि बोले—"हम तो तप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। तपसा किं न लभ्यते—तपस्या से ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सके।" इस पर मुद्गल ऋषि के पुत्र महर्षि नाक ने

"हमारे मत में तो स्वाध्याय प्रवचन–शास्त्रों का पठन-पाठन–ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे श्रेष्ठ कोई कार्य नहीं, क्योंकि सबसे बडा तप स्वाध्याय और प्रवचन ही है।※

वास्तव मे प्राचीन ऋषि महर्षियों का समस्त काल स्वाध्याय और प्रवचन में ही बीतता था। मन्त्रो का जप यह भी स्वाध्याय में ही है। हमारे ब्रह्मचारीजी एक प्रकार से आधुनिक समय के ऋषिकल्प ही महामानव थे।

इसके अनन्तर तो उनसे अनेकों बार मिलना हुआ। वे हमसे अपने परम आत्मीय बन्धु की भाँति स्नेह रखते थे। तब तक दंडि स्वामी श्री विश्वेश्वराश्रमजी महाराज नरवर नहीं आये थे। उस समय पहिले ही पंडित पू० स्वामी अच्युत मुनिजी ने उन्हें भेरिया मे साधुओं को वेदान्त पढाने को बुलाया था। वे भेरिया मे एक वेदान्त का विद्यालय खोलना चाहते थे। ब्रह्मचारी जी चाहते थे वह नरवर में ही खुले। श्री अच्युत मुनिजी और ब्रह्मचारीजी में किसी विषय पर मतभेद हो गया वह लम्बी बात है, अन्त में स्वामीजी नरवर में ही आकर पढ़ाने लगे। वे स्वामी जी पंजाबी थे कुछ अक्खड़ स्वभाव के। भगवन्नाम संकीर्तन आदि का बहुत खंडन करते थे। उन दिनों मैं हर समय "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मन्त्र का सदा सर्वदा उच्चारण करता रहता था। लिखते समय भी मुख से

※ सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः।
तप इति तपोनित्य पौरुशिष्टिः॥
स्वाध्याय प्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्य.।
तद्धि तपस्तद्धि तपः॥
(तैत्तिरीयोपनिषद्)

यह मन्त्र उच्चरित होता रहता था। चैतन्य चरितावली आदि मम समय के ग्रन्थ ऐसे ही उच्चारण करते-करते लिखे हैं। जिस समय वे पढ़ा रहे थे, उस समय मैं भी उनके यहाँ बैठकर सुन रहा था। उन्होंने तुरन्त कहा—"तुम्हारे बोलने से हमारे पढ़ाने में विघ्न होता है, या तो बोलना बन्द करो नहीं चले जाओ।" मैं उठकर चला आया।

इसी प्रकार एक दिन पू० उड़िया बाबाजी भी गये और उनको भी बहुत फटकारा। सन्यासी होकर कीर्तन कराते हो, आदि-आदि और कह दिया—यहाँ से चले जाओ। वे प्रणाम करके चले आये। पीछे ब्रह्मचारीजी महाराज बाबा के पास गये और क्षमा याचना की। श्री ब्रह्मचारीजी बड़े व्यवहार पटु थे। वे अपने व्यवहार से सभी को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। उनके समीप गरीब, अमीर, पठित, मूर्ख, सनातनी, आर्यसमाजी, योगी भोगी सभी प्रकार के लोग आते थे, और सभी से उन्हीं के अनुरूप बात किया करते थे।

देश में भारतीयता का प्रचार हो, फिर से धर्म की स्थापना हो, वैदिक आर्य संस्कृति का प्रसार हो। ब्राह्मणों में फिर से षोडश-संस्कार होने लगे। उनकी बड़ी बड़ी योजनायें होती थीं। एक बार मुझसे भी बहुत-सी बातें हुईं। उनको आशा थी—"यह उत्साही है, नवयुवक है, यह जिस काम में जुट जायगा तो काम हो जायगा।" मुझसे कहा—"यों ब्राह्मणों का संगठन करो। एक सम्मेलन करो। सबको संध्या का गायत्री का उपदेश दिया जाय। सब बच्चे कम से कम सन्ध्या-गायत्री करें।" उन्होंने बड़ी बड़ी योजनायें बनायीं। मैं उसके लिये खुरजा आदि गया भी। किन्तु खुरजे में प० नारायणदत्तजी वैद्य ने मेरा उत्साह शिथिल कर दिया। उन्होंने कहा—"ब्रह्मचारीजी तो बहुत बड़े आदर्शवादी हैं,"

ऐसे ही योजना बनाते हैं। तुम अपना जो कार्य कर रहे हो वही करो।" अतः फिर मैं आगे न बढ़ा उत्तराखंड की ओर चला गया।

उन दिनों मैं इसी संकल्प से निकला था, कि "अब कभी उत्तराखंड से लौटकर नहीं आऊँगा। या तो अपने लक्ष्य को पूरा करूँगा, नहीं तो पहाड़ों में गल मरूँगा।"

किन्तु मैं रुग्ण होने से अपनी प्रतिज्ञा को निभा नहीं सका। फिर लौटकर नीचे आ गया और इधर-उधर घूमघाम कर यहाँ भूसी में हंसतीर्थ की वट की कुटिया के नीचे रहकर अपना अनुष्ठानादि करने लगा।

उन दिनों महामना मालवीयजी इस बात का प्रचार कर रहे थे कि सभी ब्राह्मणों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने चाहिये। हमारे एक परम स्नेही बन्धु पं० भूदेवजी शर्मा हैं, उनके भतीजे श्रीनिवास शर्मा उन दिनों काशी विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। मालवीयजी ने अपनी पोती का विवाह उन्हीं के साथ किया था। ब्रह्मचारीजी उसकी बारात में प्रयाग आये थे। वे जानते थे मैं भूसी में हूँ। उन दिनों मेरा ऐसा नियम था, कि मैं न तो किसी से बोलता था, न किसी की ओर देखता ही था चुपचाप अपनी कोठरी में बैठा रहता था। ब्रह्मचारीजी आये, घंटों मेरी कोठरी के बाहर बैठे रहे। मैंने उन्हें देखा भी फिर-भी मैं बोला नहीं, अन्त में वे चुपचाप कुटिया को प्रणाम करके चले गये। ऐसे ही वेद-तीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्री जो श्री ब्रह्मचारीजी के सहाध्यायी थे, बैठकर चले गये। अब मुझे पश्चात्ताप हो रहा है, मैंने ऐसे नियम का दुराग्रह क्यों किया ? ऐसे महापुरुषों का मुझे नियम छोड़कर स्वागत सत्कार करना चाहिये था। किन्तु ब्रह्मचारीजी ने इसका

तनिक भी बुरा नहीं माना न इसके लिये कभी उन्होंने मुझे ताना ही दिया। वे स्वयं भी तो अपने नियमों में दृढ़ रहने वाले थे।

जब हमारे कृपापात्रीजी महाराज ने देहली में शतकुण्डी महायज्ञ कराया, तो उसके प्रधान यजमान उन्होंने ब्रह्मचारीजी को ही बनाया। वह यज्ञ अभूतपूर्व था, एक प्रकार से प्रयाग के कुम्भ का-सा ही दृश्य था। उसके संयोजकों में हमारे पं० ज्योतिप्रसाद जी आदि अनेकों हमारे पुराने भक्त थे। उन दिनों मेरा प्रयाग छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाने का नियम था। मेरे स्नेही बन्धुओं ने अत्यन्त ही आग्रहपूर्वक कहा, कि चाहे घंटे ही भर को सही आप इसमें अवश्य आवें।

मैं कैसे जा सकता था, उन दिनों वायुयान सर्वसाधारण जनता को सुलभ नहीं थे। केवल सैनिक अधिकारी ही वायुयान से सरकारी कार्य से जा आ सकते थे। आज जैसे नेतागण वायुयान से जहाँ-तहाँ जाते हैं, वैसे उन दिनों जनता के किसी व्यक्ति को वायुयान नहीं मिल सकता था। हमने मिलावली के कुँवर कायमसिंह को सेना के उच्चाधिकारियों के पास भेजा। वह अँगरेज अधिकारी कोई भलामानुष रहा होगा, वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने चार सीट वाला एक वायुयान देहली जाने को हमें दे दिया। हमने यज्ञ के व्यवस्थापकों को सूचना दे दी, हम वायुयान से आ रहे हैं। सर्वदा नई बात थी, अत्यन्त ही कुतूहलमय समस्त यज्ञ-मेला में हल्ला मच गया। लोग भाँति-भाँति की बातें फैलाने लगे–जितने मुख उतनी ही बातें। समाचार पत्रों में भी बड़े-बड़े शीर्षक देकर यह समाचार छापा गया, किसी ने हँसी उड़ाई, किसी ने व्यंगपूर्वक चुटकियाँ ली, किसी ने हमारे वायुयान से जाने का औचित्य भी दिखाया। लोगों ने समझा एक वायुयान करने में लाखों रुपये व्यय हुए होंगे। किसी समाचार

पत्र ने छापा भी कि एक साधु को इतना भारी व्यय करके यज्ञ मे जाने की क्या आवश्यकता थी। किन्तु यह सब नई बात होने स लोगो का भ्रममात्र ही था, सैनिक अधिकारी ने केवल चार सीट का जो नियमित भाड़ा था, उससे एक पाई भी अधिक नहीं लिया। अब मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं स्यात् २५०) या ३००) के लगभग ही रुपये लगे होंगे। इस पर इतना भारी तूफान।

गाँवो के लोग भाँति भाँति की कहानियाँ गढने लगे। कुछ लोग कहने लगे—"प्रयागराज के एक मोनीजी हैं, करपात्रीजी ने कहा है, तुम नहीं आओगे तो यज्ञ पूरा ही न होगा, अतः वे भारी व्यय करके विमान से आ रहे हैं।" ये सब चडूरवाने की गप्पें थीं। मेरे बन्धुओं ने बताया कि जो भी वायुयान आता सब लोग चिल्लाने "लगते इसी मे ब्रह्मचारीजी आ रहे हैं, यहीं यज्ञ मण्डप में उतरेंगे।"

उन दिनो श्री आनन्दमयी माँ भी मेरे ही यहाँ आश्रम में ठहरी हुई थीं। मैंने बडे सकोच के साथ कहा—"माँ यज्ञादि में तो बिना बुलाये भी जाना चाहिये। आप भी करपात्रीजी के यज्ञ मे चलो तो कैसा रहे ?" उन्होंने बडे उत्साह के साथ कहा—"हाँ, पिताजी ! आप जहाँ भी कहेगे, वहीं चलूँगी। जहाँ भी ले चलेंगे वहीं जाऊँगी।" मुझे बडी प्रसन्नता हुई। उसमें चार ही सीटें थीं। चलने को तो और भी बहुत से उत्सुक थे। किन्तु श्री आनन्दमयी माँ, श्री गुरुप्रिया दीदी, कुँवर कायमसिंह और मैं चार ही गये। हमको भी अत्यन्त कुतूहल हो रहा था, आकाश में वायुयान कैसे उडेगा, लोग कहते हैं वहाँ जी मिचलाता है, उलटी होती हैं, आदमी को कसकर बाँधकर डाल दिया जाता है। किन्तु हमने देखा ये सब गप्पें थीं, न कसकर बाँधकर डाला जाता है, न सयको के और उलटी ही होती हैं। एक पेटी होती है आपको

इच्छा हो उसे कमर में बाँध लो, चाहे न बाँधो। मैंने तो बाँधी नहीं। पहिला ही जीवन में अवसर था, उस समय जितना आनन्द आया, जितना नीचे का दृश्य मनोरम, सुहावना, अद्भुत, अवर्णनीय लगा, इसके अनन्तर अनेकों बार वायुयानों में गये वैसा आनन्द फिर कभी नहीं आया। केवल दीदी को बेहोशी हुई, के हुई। माँ तो आँखें बन्द किये बैठी ही रहीं। मैं तो चलते वायु यान में सर्वत्र उछलता-कूदता रहा, नीचे का अद्भुत दृश्य देखता रहा। दीदी का उपचार करता रहा। घंटा भर भी न लगा होगा, हमारी तनिक आँख झपी कि देहली के शतकुंडी यज्ञ का विशाल पंडाल, सहस्रों तम्बू डेरे दिखायी देने लगे। उतरने के स्थान पर यज्ञ के प्रबन्धक गाडी लेकर आये ही हुए थे। हम यज्ञस्थली में पहुँच गये। श्री ब्रह्मचारीजी महाराज हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। बडे ही स्नेह से मिले। वायुयान की सब बात पूछते रहे। यहाँ की नाना प्रकार की किंवदन्तियों को भी बताते रहे। कहने लगे—"मेरी तो यजमान बनने की इच्छा नहीं थी, किन्तु श्री करपात्रीजी के अत्यन्त आग्रह को मैं टाल नहीं सका। यज्ञ का यजमान सपत्नीक होना चाहिये। ये ठहरे ब्रह्मचारी इसलिये कुशा की पत्नी बनाकर कार्य चलाया गया। इस पर भी लोगों ने भाँति-भाँति की टीका टिप्पणियाँ कीं। लोग तो बहिर्मुख होते ही हैं।"

श्री ब्रह्मचारीजी की अनन्त स्मृतियाँ हैं, किन्हें किन्हें लिखूँ किन्हें किन्हें छोड़ूँ। एक बार आपने क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम या क्षत्रिय ऋषिकुल नाम की एक नवीन संस्था वहीं नरवर पाठशाला में क्षत्रिय ब्रह्मचारियों के लिये खोली। वे धर्म के प्रचार प्रसार के लिये कुछ न कुछ सोचते ही रहते थे। अपने ही यहाँ क्षत्रियों का एक महासम्मेलन कराया। उसी में प्रस्ताव पारित करके वह संस्था चालू की। ठाकुर लोग तो प्रस्ताव पारित करके घरों

२-४ लड़के भी आ गये। किसी ने कुछ लिया दिया पाठशाला का बहुत सा रुपया भी उसमें व्यय हो गया। ऋण हो गया। तब आपने मुझसे कहा—'ब्रह्मचारीजी! क्या बतावें ये क्षत्रिय तो मदान्ध हो गये हैं। यहाँ सम्मेलन में आये अपने अपने डेराओं में खाट पर बैठे हुक्का पीते रहते थे, जब हम जाते थे, तो उठकर खड़े भी नहीं होते थे। समिति बनी पदाधिकारी चुने गये। कार्तिकी के मेले के पश्चात् कोई फिर यहाँ फटका भी नहीं। उलटा हमारे ऊपर ऋण करा गये। जब मैंने यह बात खुरजे के मठ बाबूलाल जड़िया से कही, तो उन्होंने हँसकर कहा—"महाराजजी! यदि आप वश्यों के लिये ऐसा ब्रह्मचर्य आश्रम खोलते, तो आपके ऊपर ऋण न होता ?"

तब मैंने कहा—"सेठजी! इच्छा तो मेरी यही थी, कि ब्राह्मण बालकों के लिये तो यह पाठशाला है ही। क्षत्रियों की पाठशाला चल जाय तो फिर वैश्य बालकों के लिये भी खोली जाय। सो, इसीसे शिक्षा मिल गयी।"

— ऐसी थी, उनकी धर्म की उन्नति के लिये भावना।

— जब मैंने प्रधान मन्त्री प० जवाहरलाल नेहरू के सम्मुख हिन्दुकोडबिल के विरोध में उनका प्रत्युपरोध किया, तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए उन्होंने वाल्मीकि रामायण के एक अनुष्ठान के लिये अत्यन्त ही आग्रह किया और स्यात् वह अनुष्ठान आश्रम में किया भी गया।

वे बड़े दयालु थे, कोई भी उनके पास हाईकोर्ट के मुकदमे की बात लेकर जाय, या प्रयाग का कोई और काम लेकर जाय, तो तुरन्त कह देते—'हाँ, वहाँ तो हमारे ब्रह्मचारीजी हैं, उनका वहाँ बहुत प्रभाव है, वे तुम्हारा सब काम करा देंगे, और तुरन्त उसके हाथों मुझे पत्र लिख देते। इनका काम अवश्य करा देना। अपना

ही काम समझना।" मानो करने कराने वाला न्यायाधीश मे ही हूँ। वे दूसरों के दु.खों को देखकर दयार्द्र हो जाते। सहस्रों छात्रों को पढाकर उन्हे योग्य बनाया। बहुतों को पढाकर उनका योग्य स्थानों म विवाह कराया, बहुतों की आजीविका का प्रबन्ध कराया। किसी का काम हो जाय, इसके लिये किसी को भी पत्र लिखने म उन्हे सकोच नहीं था। एसे थे वे हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज! अब वे न जाने किस लोक मे चले गये? हमे भी अब जाना ही है। बिस्तर बाँधे तैयार बैठे हैं, जब भी बुलावा आ जाय। ब्रह्मचारीजी तो चले गये, अब उनकी मधुर मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। जब कुछ प्रेमी बन्धुओं ने उनका श्रद्धाञ्जलि स्मृतिग्रन्थ निकालने का प्रस्ताव किया तो मने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसी प्रेरणा से ये संस्मरण लिखे गये है। लिखने की बाते तो बहुत सी हैं, किन्तु स्थानाभाव से इतना ही कहकर श्री भर्तृहरिजी का एक श्लोक उद्धृत करके इस संस्मरण को समाप्त करता हूँ।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्त.।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यम्
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्त॰ कियन्त॰॥

छप्पय

जिनके तन मन पुन्य प्रेम अम्मृत तैं पूरित।
बानी अति ई-मधुर हियेकूँ—हरषि हिलोरत॥
मुदित करत जग फिरत न पर अवगुनकूँ निरखत।
परगुन अनुके सरिस ताहि गिरि करि हिय बिकसत॥
सदा मुदित मन त्यागि मद सबके नित गुन गावत हैं।
कितने ऐसे सन्त हैं, जो परहित दुख सहत हैं॥

—•—

मुण्डकोपनिषद्

शान्ति पाठ

[४१]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥❀

(मु० उ० शा० पा०)

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करैं सब यजन ग्रहनित ।
काननि तैं हू सुनें वचन शुभ भद्र सतत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्र वर ।
सुदृढ़ अंग तनु लगैं ईश इस्तुति में दृढ़तर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देव हित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहै तप में सतत ॥

❀ हे देवगण ! हम सब यजन करने वाले हों । कानों से भद्र ही बातें सुनें । आँखों से भद्र दृश्य ही देखें । हमारे शरीर के सब अंग सुदृढ हों, उनसे हम भगवान् की स्तुति करते हुए अपनी आयु को देवहित में लगाकर । सदुपयोग करें । ~

— —

वे कान ही यथार्थ कान हैं, जो कल्याण स्वरूप कृष्ण की कमनीय कथाओं के श्रवण मे ही सदा सलग्न रहते हों। यदि कान कृष्ण कथा के अतिरिक्त विषय वार्ताओ के श्रवण मे ही लगे रहें, तो वे कान नहीं सर्पों के रहने के बिल के समान हैं, जिनमें विषय वासना रूप सर्प बैठा हुआ फुफकार छोडकर सबको भयभीत करता रहता हैं।

जो नेत्र नन्दनन्दन के नयनाभिराम रूप के दर्शनो मे अनुरक्त नहीं हैं, जो चक्षु चलते फिरते भगवत् विग्रह सन्त महात्माओं को देखकर खिल नहीं जाते, भगवत् विग्रहो की झॉकी से प्रफुल्लित नही होते वे मोर की पख मे बने नयनो के सदृश नाम मात्र के नयन हैं। नयनो को दो ही कार्य है या तो भगवत् विग्रहो का दर्शन अथवा भागवतो का अवलोकन।

शरीर सुडोल है, हृष्ट पुष्ट हे, रोग रहित है, किन्तु उससे हम प्रभु प्रार्थना नही करते, परमात्मा के पादपद्मो में प्रणत नहीं होते, नन्दनन्दन के नवनीत से भी कोमल नूतन किसलय से भी कमनीय चरणकमलो मे नम्रता से नहीं झुकते, तो यह इतनी बडी आयु व्यर्थ हे, हमारे समस्त कार्य प्रभु के ही निमित्त हों।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ईश, केन, कठ और प्रश्न इन चार उपनिषदो का भावार्थ सरल-अर्थ मैंने आप से कह दिया। पॉचवी मुण्डकोपनिषद् है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! यह बताइये कि इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यो पडा ?"

हॅसकर सूतजी बोले—"महाराज! अब सब मैं ही सुनाऊँ? कुछ आप भी हमें सुनावें। यह मुण्डक उपनिषद् तो आपकी ही हे। आपने ही महर्षि अगिरा से प्रश्न किया था, और आपके

ही प्रति महामुनि अंगिरा ने उपदेश दिया था, अतः इस उपनिषद् के अर्थ को तो हम आपके ही श्रीमुख से सुनना चाहते हैं।"

यह सुनकर शौनक मुनि बोले—'सूतजी ! यह भाषा कथा तो आपके ही मुख से मधुर लगती है। मैं उतनी मधुरता के साथ सम्भवतया नहीं सुना सकूँगा। फिर भी आपका आग्रह है तो मैं हा सबको उस उपनिषद् का सार सुनाता हूँ।

अथर्ववेद की एक शाखा हमारे नाम से प्रसिद्ध हुई। सब लोग उसे शौनकी शाखा के नाम से कहते हैं। उसी शाखा में यह मुण्डक उपनिषद् है। मैंने ही स्वयं भगवान् अंगिरा मुनि से प्रश्न किया था, उन्होंने जो मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया, उसीसे मुण्डकोपनिषद् का प्रादुर्भाव हुआ।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन् ! इस उपनिषद् का नाम मुण्डक क्यों पडा ?"

शौनकजी ने कहा—"हमारी इस उपनिषद् से पूर्व की भी बहुत-सी उपनिषदें हैं। जैसे शरीर में सभी अंग आवश्यक हैं, उपयोगी हैं, उत्तम हैं, किन्तु मस्तक सबसे अधिक मुख्य है—श्रेष्ठ है। इसी प्रकार यह उपनिषद् सब उपनिषदों में मुण्ड स्थानीय है। मुण्ड मेवेति मुण्ड, स्वार्थेकन्) अर्थात् जैसे शरीर के सब अंगों में मस्तक श्रेष्ठ है, वैसे ही समस्त उपनिषदों में यह श्रेष्ठ उपनिषद् है। उपनिषद् के पूर्व हम यह बताना आवश्यक समझते हैं, सभी कार्यों को आरम्भ करने के पूर्व ॐ का उच्चारण करना चाहिये। समस्त कार्य प्रणव से ही आरम्भ करने चाहिये।"

सूतजी ! हम भृगुवंशी हैं अतः सर्वप्रथम हम अपने कुल का परिचय देने के पूर्व इस विद्या की परम्परा बता देना आवश्यक समझते हैं। इस सम्पूर्ण विश्व के एक मात्र कर्ता, इस भुवन के गोप्ता—रक्षक चतुर्मुख ब्रह्माजी हैं। समस्त सृष्टि इन्हीं के द्वारा

उत्पन्न हुई है। ये समस्त देवताओं में प्रथम देव हैं। सभी अमरों में आदि अमर हैं। सृष्टि के आदि में ये चतुरानन प्रजा पति प्रकट हुए। उनके ज्येष्ठ पुत्र महर्षि अथर्वा हुए उन्हीं के प्रति ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जो सभी विद्याओं की आधारभूता–सबसे श्रेष्ठ है।

जिस ब्रह्मविद्या का ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुत्र अथर्वा को उपदेश दिया। उसी विद्या को अथर्वा ऋषि ने अंगी ऋषि से कहा। उन अंगी ऋषि ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवह ऋषि से कहा। सत्यवह ऋषि ने अपने पूर्ववर्ती ऋषियों से प्राप्त इस परावर विद्या को अंगिरा नामक महर्षि से कहा। उन अंगिरा मुनि से ही यह विद्या मुझ शौनक को प्राप्त हुई।"

अब आप हमारे कुल के सम्बन्ध में भी थोड़ा वृत्तान्त सुन लीजिये। सभी के रचयिता जगत् के पितामह ब्रह्माजी ही हैं। उन्हीं ब्रह्माजी की त्वचा से–या वीर्य से–वरुणदेव के यज्ञ में महर्षि भृगु की उत्पत्ति हुई। उन भृगुजी की कई पत्नियाँ थीं, एक तो कर्दम मुनि की पुत्री ख्याति थी जिनसे धाता, विधाता नाम के दो पुत्र हुए और 'श्री' नाम की कन्या हुई, जो भगवान् विष्णु की पत्नी बनीं।

उनकी एक दूसरी पुलोमा नाम की पत्नी थी। जिनसे महर्षि च्यवन की उत्पत्ति हुई। च्यवन के पुत्र प्रमति हुए। उन प्रमति मुनि ने घृताची नाम वाली अप्सरा में रुरु नामक पुत्र उत्पन्न किया। महर्षि रुरु ने प्रमद्वरा में शुनक नाम के पुत्र को उत्पन्न किया। ये हमारे प्रपितामह थे। ये परम यशस्वी, तेजस्वी तथा तपस्वी थे, इन्हीं शुनक महर्षि के नाम से हम शौनक कहलाते हैं। नैमिषारण्य में यह जो हमारी शाला है इसको महाशाला भी आप सब लोग कहते हैं। इस शाला की सेवा करने से ही

आप सब हमे महाशाल कहकर पुकारते हैं। एक बार हम शास्त्र विधि के अनुसार हाथ मे समिधा लेकर अंगी ऋषि के गोत्र वाले महर्षि अंगिरा की शरण मे गये। हमने उन्हे यथोचित रूप से दंड प्रणाम करके उनसे ही इस उपनिषद् के सम्बन्ध मे प्रश्न किये जिन्हे हम आप सबसे आगे कहेंगे। इसके पहिले हम सब मिलकर देवताओं से प्रार्थना कर लें—

हे वृद्धश्रवा इन्द्र ! आपका यश जगत् में सर्वत्र व्याप्त है, आप हमारा कल्याण करें। स्वस्ति पोषण करें। हे सूर्यदेव ! आप विश्व के प्रत्यक्ष देव है, हमारा कल्याण करें। हे गरुड़देव ! जैसे भगवान् का सुदर्शन चक्र अरिष्टो को–कष्टो को–अपनी नेमियो से मिटाते रहते हैं, वैसे ही आप भी शक्तिशाली है, आप हमारा कल्याण करें मंगल करें। स्वस्ति पोषण करें। हे देवगुरो ! बृहस्पति जी ! आप बुद्धि के सागर हैं, नीतिकारो के शिरोमणि हैं आप भी हमारे कल्याण की पुष्टि करे। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्म तीनो प्रकार के तापो की शान्ति करें।

ॐशान्ति ! ॐशान्ति !! ॐशान्ति !!!

इस प्रकार शान्ति पाठ करके अब मुण्डकोपनिषद् का आरम्भ करते हैं।

छप्पय

देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्व वेद हे सूर्य ! जगत आलोक दिखायो॥
गरुड़ निवारक कष्ट शक्तिशाली सु–नेमि सम।
गुरो ! बृहस्पति देव ! करें मिलि विनती सब हम॥
सबतें हमरी विनय है, स्वास्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख, शोक, भय, भ्रम हरें॥

मुण्डकोपनिषद् (प्रथम खण्ड)

ब्रह्म के जान लेने पर सब कुछ जाना जा सकता है।

[४२]

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥*

(मु० उ० प्र० ख० ९ म)

छप्पय

शौनक मुनि अंगिरा निकट पूछत—हे भगवन।
काहि जानि सब जानि लेयँ—बोले—शौनक-सुन ॥
विद्या अपरा परा शास्त्र सब अपरा माहीं।
जातैं अक्षर ब्रह्म ज्ञान सो परा कहाई ॥
जो अद्रेश्य अग्राह्य है, गोत्र वर्ण इन्द्रिय रहित।
नित्य सर्वगत सूक्ष्म विभु, ताहि लखें ज्ञानी भगत ॥

एक प्रधान मल्ल निवर्हण न्याय होता है। बहुत मल्ल अखाड़े मे एकत्रित हैं, सबसे कहाँ तक लड़ा जाय, उन सबमें जो सबसे बड़ा हो उसे विजय कर लो। सभी पर विजय हो जायगी। हंडी मे चावल पक रहे हैं, प्रत्येक चावल को नहीं देखा जाता कि पका या

---

* जो सर्वज्ञ है, सर्व वित् है, जिसका ज्ञानमय तप है। उसी से यह दृश्य ब्रह्म—विराट् जगत्—समस्त नाम, समस्त रूप तथा खाये जाने वाले समस्त पदार्थ अर्थात् अन्न उत्पन्न होता है।

नहीं। हंडी मे से एक चावल को देख लो। एक के पक जाने पर सब पके माने जायँगे। मिट्टी के लाखों पात्र रखे हैं। सबको देखने का आवश्यकता नहीं। एक पात्र को देख लिया कि इसके बाहर भीतर सर्वत्र मिट्टी ही मिट्टी है, तो सभी पात्र मृण्यमय हैं, यह सिद्ध हो जायगा। सुवर्ण के एक आभूषण को देख लो, उसके भीतर बाहर सुवर्ण ही सुवर्ण है, तो सभी सोने के आभूषण सुवर्णमय प्रतीत हो जायँगे। इसी प्रकार यह जगत् ब्रह्ममय है। ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ है। ब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी ब्रह्म का ही रूप है, सभी पसरा ब्रह्ममय है, यह ज्ञान हो जायगा। अतः सबसे आवश्यक बात यह है, कि सर्वप्रथम ब्रह्म प्राप्ति का—ब्रह्मज्ञान का प्रबल प्रयत्न करना चाहिये। ब्रह्म को प्राप्त कर लेने पर—ब्रह्मज्ञान हो जाने पर—फिर संसार मे कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं रह जायगी। सभी का ज्ञान हो जायगा क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है।

शौनक महर्षि सूतजी से तथा अन्यान्य महर्षियों से कह रहे हैं—"मुनियो! हम समित् पाणि होकर भगवान् अंगिरा महर्षि की सेवा में समुपस्थित हुए। हमने महर्षि के पादपद्मों में प्रणत होकर दण्डवत प्रणाम किया। तब उनकी आज्ञा लेकर हमने कहना आरम्भ किया। हमने कहा "भगवन्! हम एक प्रश्न लेकर आपकी सेवा मे समुपस्थित हुए हैं, आज्ञा हो तो हम आप से कुछ प्रश्न पूछें?"

कृपालु मुनि ने बड़े ही प्रेम से हमसे कहा—"वत्स! तुम्हें जो भी पूछना हो, मुझसे बिना किसी संकोच के पूछो।"

तब मैंने पूछा भगवन्! यह जगत् तो अनादि है, अनन्त है। इसमें असंख्यों पदार्थ हैं। हम सबकी ही यदि जानकारी प्राप्त करना चाहें, तो कैसे प्राप्त कर सकते हैं। क्या कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, कि जिसे जान लेने पर यह जो भी कुछ है सभी

जान लिया जाय। एक की ही जानकारी से सभी की जानकारी हो जाय, ऐसी कोई यदि वस्तु है, तो उसका परिचय हमें करा दीजिये।"

इस पर महामुनि अंगिराजी ने कहा—"देखो, भैया! जो ब्रह्मवेत्ता महामुनि हैं, वे दो विद्याओं को जानने योग्य बताते हैं।"

मैंने पूछा—"वे जानने योग्य दो विद्यायें कौन कौन सी हैं ?"

महामुनि अंगिरा ने बताया—"एक विद्या का नाम तो परा विद्या है और दूसरी विद्या का नाम अपरा विद्या है।"

मैंने पूछा—"अपरा विद्या किसे कहते हैं ?"

अंगिरा मुनि ने कहा—"अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व ये चारों वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदाङ्ग आदि आते हैं।"

मैंने पूछा—"परा विद्या क्या है ?"

उन्होंने कहा—"जिसके द्वारा तत्त्वतः अविनाशी परब्रह्म का जिसे अक्षर-भी कहते हैं उनका-ज्ञान हो, उसे ही परा विद्या कहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परा विद्या का वर्णन वेदों में नहीं है क्या ?"

शौनकजी कहा—"है क्यों नहीं, वेदों में तो परा, अपरा दोनों का ही वर्णन है। परन्तु यहाँ वेद से अभिप्राय कर्मकाण्ड युक्त वेदों से है। वेद के जिस भाग में कर्मकाण्ड का वर्णन है, उसी का नाम वेद है, किन्तु वेद के अन्तिम भाग में जिसमें परा विद्या का वर्णन है, उसे उपनिषद् कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से उसे वेदान्त भी कहते हैं। कर्मकाण्ड का विषय त्रिगुणय विषय है। इसी प्रकार जो वेद को समझने के लिये उनके ज्ञान के लिये

विद्या है वह वेदान्त है। उसमें परा विद्या का ही तो वर्णन है। इसी प्रकार वेद के अंगों के सम्बन्ध में है। जैसे शिक्षा है। शिक्षा में यह बताया गया है, वेदों का पाठ कैसे करना चाहिये जो बहुत शीघ्रता से पाठ करते हैं, वह भी उचित नहीं। अत्यन्त वेग के साथ चिल्लाकर करते हैं, सिर को हिला हिलाकर करते हैं, लिखा कुछ और है, पाठ कुछ और कर रहे हैं। बिना ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत का विचार किये पाठ कर रहे हैं ये सब नियम विरुद्ध पाठ हैं। केवल सस्वर वेदों का पाठ करना भी पुण्यप्रद कार्य है। अतः वेद का अंग शिक्षा पाठ की प्रक्रिया बताता है।

दूसरा वेद का अंग है 'कल्प' जैसे गृह्य सूत्रादि। इसमें कर्म काण्ड सम्बन्धी यज्ञ यागों की विधि का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यज्ञ करना चाहिये। अमुक यज्ञ की इस प्रकार विधि है। जिसमें विधि विधान का निर्णय हो वह कल्प है।

तीसरा वेद का अंग है व्याकरण। व्याकरण बिना पढ़े हम यह नहीं जान सकते कि यह शब्द कैसे बना, इसमें कौन-सी प्रत्यय किस अर्थ में प्रयुक्त हुई। किस प्रक्रिया से अमुक शब्द साधा जायगा। इस शब्द में अमुक विभक्ति आने पर इसका क्या अर्थ होगा। यह शब्द लौकिक है या वैदिक इस प्रकार शब्द ज्ञान जिसमें हो वह व्याकरण है। व्याकरण के ज्ञान बिना वेदों का उच्चारण यथार्थ रूप से नहीं हो सकता और न उनका यथार्थ अर्थ ही समझा जा सकता है।

वेद का चौथा अंग है निरुक्त। निरुक्त में पदों के अर्थों का ब्योरा है। यह पद किस अर्थ में प्रयुक्त है, इसके पर्यायवाची शब्द कौन कौन से हैं। एक प्रकार से वैदिक शब्दों का यह कोश है। निरुक्त के बिना वाक्यों की सगति नहीं लगती।

वेद का पाँचवाँ अंग है छन्द। वेदों की ऋचायें शुद्ध गद्य में

हैं कुछ पद्य मे हैं। पद्य मे भाँति भाँति की कवितायें हैं। अमुक ऋचा कोन-सी छन्द मे है, उस छन्द में कितने शब्द प्रयुक्त होत हैं, वदिक छन्दों की जाति, भेद आदि जिसके द्वारा जाने जायँ उस शास्त्र का नाम छन्द है।'

वद का छटा अग हैं, ज्योतिष–इसमें गणित और फलित दोनों का समावेश है। गणना करके ग्रह और नक्षत्रों की गति बता दे, कि अमुक ग्रह म कितने दिनों तक, कब तक अमुक राशि पर रहेगा। अमुक राशि वाले व्यक्ति का, अमुक ग्रह का क्या शुभाशुभ फल होगा। इस प्रकार जो ग्रह नक्षत्रों की गति, स्थिति तथा उनका फलाफल जो शास्त्र बताने वह ज्योतिष शास्त्र है।

ये छ भी अपरा विद्या के ही अन्तर्गत हैं। इसलिये जो जगत् का बातें बताव, विराट् ब्रह्माण्ड का परिचय करावें, भगवान की विभूतियों के सबन्ध में बतावे वह अपरा विद्या है और जो इससे परे त्रिपाद विभूति का ज्ञान करावे वह परा विद्या है। दोनों का वर्णन वेदों मे ही है। जिससे अपरा विद्या का ज्ञान हो वह वेद है, जिससे परा विद्या का ज्ञान हो वह वेद का अतिम भाग वेदांत है।

सूतजी न कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये अब आप परा विद्या के सम्बन्ध में बताइये। परा विद्या से जिस अक्षर अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी के सम्बन्ध में समझाइये।"

शौनक मुनि न कहा—"सूतजी! उस अक्षर ब्रह्म के सबन्ध म क्या बतावें कैसे बतावें। वह तो अद्रेश्य है। अर्थात् जिसको बाह्य इन्द्रियों द्वारा जाना न जा सके। वह अग्राह्य है, जिसे बाहरी इन्द्रियाँ ग्रहण न कर सकें, पकड न सके। अगोत्र है अर्थात् इनका नाम गोत्र कुछ भी न हो, अवर्ण है। अर्थात् जिसका वर्ण

आकार प्रकार कुछ भी न हो। रङ्ग रूप से रहित हो अचक्षु श्रोत है अर्थात् उसके हमारे जैसे लौकिक चर्म चक्षु तथा चर्म के कान आदि न हों। उसके हमारे जैसे लौकिक हाथ पैर न हो। अर्थात् वह ज्ञानेन्द्रियों से तथा कर्मेन्द्रियों से रहित है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो आपने सब निषेधात्मक शब्द बताये। ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा नहीं है तो वह है कैसा ?"

शौनक मुनि ने कहा–भगवान अंगिरा कहते हैं—"वह अक्षर ब्रह्म नित्य है अर्थात् तीनों कालों में एक समान रहने वाला है। विभु है कहीं एक ही स्थान पर ही बैठा रहता हो सो नहीं, वह सर्वव्यापक है। वह नियमित देश में ही सीमित हो सो भी बात नहीं सर्वगत है। सबमें समान भाव से छाया हुआ है सब में फैला हुआ है। सुसूक्ष्म है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसे चक्षु आदि किसी भी प्रकार से देख नहीं सकती। वह अव्यय है। उसमें चाहे जितना व्यय करते रहो, वह घटता नहीं। संसार भर में जितने भी भूत हैं, जितनी भी योनियाँ हैं, उन सबका जनक है। सबका परम कारण है।"

सूतजी ने पूछा—"ऐसे नित्य, विभु, सर्वगत, अव्यय, परब्रह्म को कोई देख नहीं सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उसे ज्ञानी पुरुष ही भली प्रकार से—परिपूर्ण रूप से—देखते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इसे महामुनि अंगिरा ने एक दृष्टान्त देकर समझाया। जैसे एक मकड़ी है। उसकी नाभि में तन्तु रहते हैं। वह मुख से तन्तु निकाल-निकाल कर एक जाला बुनती है। इच्छा होती है, तब तक उस जाले में विहार करती है, जब इच्छा होती है उस जाले को जैसे मुख से निकालकर बनाया था

वस ही उसे निगल जाता है। यथावत अपनी नाभि में रख लेती है। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म निर्गुण अपने आप में ही इस विराट् जगत को बनाते है, उसमें स्वेच्छा पूर्वक विहार करते हैं, जब इच्छा होती है उसका उपसंहार कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"भगवान किसी को उच्च योनि में क्यों उत्पन्न करते हैं, किसी को नीच योनि में क्यो उत्पन्न करते हैं। किसी की आयु बड़ी क्यों करते है, किसी को अल्पायु क्यों बनाते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"समस्त जीवों के साथ काल, कर्म और स्वभाव लगा रहता है। किस काल में किस कर्म से फल और किस स्वभाव का जीव उत्पन्न होगा, ये सब अपने आप ही प्रकृति के अनुसार कर्मवश उत्पन्न होते रहते है। जैसे पृथ्वी में औषधियों के बीज पड़े रहते हैं, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ में नहीं उपजते। जब वर्षा होती है तो पृथ्वी में अव्यक्त रूप से पड़े हुए ओषधियों के सभी बीज अपने आप अंकुरित हो आते हैं। अपना समय आने पर योग्य परिस्थिति के आने पर वे अव्यक्त से व्यक्त हो जाते हैं, जिनका समय नहीं आया वे नहीं जमते। जैसे सनक भूमि में दबे हुए बीज वर्षा का जल पाते ही अंकुरित हो आते है, किन्तु बथुआ के बीज कितनी भी वर्षा हो, नहीं अंकुरित होते। वे न आषाढ में अंकुरित होंगे, न श्रावण, भादों, क्वार तथा कार्तिक में ही होंगे। जहाँ दीपावली बीती नहीं कि फिर वे उगना आरम्भ करेंगे, मार्गशीर्ष में बथुए का साग मिलने लगेगा। इस प्रकार देश, काल, कर्म और स्वभावानुसार पृथ्वी में नाना प्रकार की औषधियाँ अपने आप उत्पन्न हो जाती है और समय पर पककर पुनः पृथ्वी में विलीन हो जाती हैं उसी

प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह चर जगत् उत्पन्न हो जाता है। और समय पाकर उन्हीं में पुनः विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"इसमें दो शंकायें हुई। जो जैसा होता है, उससे उत्पन्न वस्तु भी उसी के गुण वाली होती है, जैसे मिट्टी के समस्त बने पात्र मृण्मय होंगे, सुवर्ण के बने समस्त आभूषण सुवर्णमय होंगे उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय चैतन्य परब्रह्म से सब चैतन्य ही उत्पन्न होने चाहिये ये जड पदार्थ उनसे कैसे उत्पन्न हुए? फिर परब्रह्म को किसान की भाँति इन्हें पैदा करने में अत्यन्त परिश्रम करना पडता होगा? भगवान् इतने भारी जगत् को इतने असंख्यों पदार्थों को पैदा करके थकते नहीं?"

यह सुनकर शौनकजी खिलखिला कर हँस पड़े और बोले—"सूतजी! आप भी अब ऐसे प्रश्न करोगे। अच्छा आप ही बताओ कि मनुष्य जड है या चैतन्य?"

सूतजी ने कहा—"जब तक जीवित है तब तक चैतन्य है, मर जाने पर शरीर जड है।"

शौनकजी बोले—"अच्छा, जीवित शरीर से जो नख, केश, रोम और मल आदि निकलते हैं, वे जड है या चेतन्य?"

सूतजी ने कहा—"नख, रोम, बाल आदि तो जड ही हैं।"

शौनकजी ने कहा—"जड हैं तो ये बढ़ते क्यों हैं?"

सूतजी ने कहा—"बढते हैं, जीवित शरीर के संसर्ग से। शरीर से इन्हें पृथक् कर दो तो नहीं बढेंगे। अथवा शरीर ही मृतक हो जाय, तो भी ये नहीं बढ़ेंगे।"

शौनक जी ने कहा—"तब सिद्ध हुआ नहीं कि चैतन्य देह से जड़ केश, रोम, नख उत्पन्न हो जाते है, उसके संसर्ग से जड होने पर भी बढ़ते है। अब यह बताइये शरीर में लाखों रोम

केश हैं दशों उँगलियों में दश नख हैं, इन्हें उपजाने मे बढाने मे मनुष्य को कितना श्रम करना पड़ता है ?"

सूतजी ने कहा—"रोम, नख, केशादि उपजाने में मनुष्य को तो कुछ भी नहीं करना पडता । वे तो समय आने पर स्वतः ही बढ़ते रहते हैं ।"

शौनकजी ने कहा—"इसी प्रकार अक्षर परब्रह्म परमात्मा से यह जड जगत् उत्पन्न होता है, उन्हीं की सत्ता से बढ़ता रहता है इसमें भगवान् को तनिक भी श्रम नहीं करना पडता इससे थकने का प्रश्न ही नहीं उठता ।"

सूतजी ने पूछा—"यह जगत् उत्पन्न कैसे होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"जैसे पृथ्वी में से बीज उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी मे जब ऊष्मा गर्मी आती है, तो उसके ताप से पड़े हुए बीज अपने आप अंकुरित होने लगते हैं । उसी प्रकार परब्रह्म अक्षर परमात्मा तपस्या द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है ।"

सूतजी ने पूछा—"क्या अक्षर निर्गुण निराकार ब्रह्म कृच्छ चान्द्रायणादि व्रत करके अपने शरीर को क्षीण करते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"उन्हें ऐसे तप की आवश्यकता नहीं । उनका सकल्प कर लेना कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ, यही तप है । उनका संकल्प होते ही वे वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं । जब संसार की वृद्धि होने लगती है, तो आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है । प्राणियों के पैदा होते ही उनके खाने को अन्न उत्पन्न हो जाता है । फिर उस अन्न से प्राण उत्पन्न होते है । अन्न से जीवन होता है । फिर उससे मन बनता है । फिर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये स्थूल भूत सत्य उत्पन्न होते है । फिर भूर्भुवादि लोकों की उत्पत्ति होती है । फिर कर्म उत्पन्न होते है,

फिर उन कर्मों का नहीं मरने वाला अवश्यम्भावी सुख दुःखादि फल होते हैं। कर्मानुसार प्राणी फल भोगते रहते हैं।

इसलिये सनजा ! सबके कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। वे सर्वज्ञ हैं सबको जानने वाले हैं, जिसका ज्ञानमय ही तप है। उसी ज्ञान स्वरूप परब्रह्म के तप से, सङ्कल्प से यह इतना विराट् स्थावर जङ्गम रूप नाना नामों वाला, नाना रूपों वाला विश्व ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ है। और उन्हीं से सबके जीवन बढ़ाने वाला, प्राणों को पोषण करने वाला अन्न उत्पन्न हुआ है। इसलिये वे परब्रह्म ही सबके आदि बीज हैं।"

शौनकजी सूतजी से कह रहे हैं—"सो, सूतजी ! हमने भगवान् अंगिरा से यही प्रश्न पूछा था कि किसके जानने पर सब कुछ जाना जा सकता है, सो उन्होंने यही उत्तर दिया, कि जिससे इस विश्व ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, उस मूल कारण को जान लेने पर सभी का परिचय अपने आप ही हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"इस प्रश्न का तो उत्तर हो गया। इसके अनन्तर आपने महर्षि अंगिरा से क्या पूछा ?"

शौनकजी ने कहा—"फिर हमने महर्षि से अग्निहोत्र के सम्बन्ध के प्रश्न किये, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह प्रकरण तो पूरा हो गया।"

छप्पय

मकरी जालो रचै निगलि पुनि जैसे जावै।
पर यो भूमि में बीज समय पर ज्यों उगि आवै॥
नरतनु नख अरु केश बढ़ैं त्यों ब्रह्म जगत बढ़।
तप तैं बाढ़ै ब्रह्म अन्न मन प्रान भूत जड़॥
जिनि को तप है ज्ञानमय, जो सर्वज्ञ कहावते।
नाम रूपमय जगत तिनि, और अन्न उपजावते॥

अग्निहोत्र की महत्ता

[४३]

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥*

(मु० उ० २ ख० १ मु० २ म०)

छप्पय

सुकृत पंथ मख वेद मत्र तैं करिहो नियमित ।
आज्यभाग आहुतिहु देहिँ तब ज्वाला प्रजलित ॥
अगिनिहोत्र अरु दरश पौणिमा चतुरमास मख ।
आग्रहन बलिवैश्व-देव पूजा अतिथिहु मल ॥
इनि यज्ञनि जे नहिँ करत, अविधि करें जे हवन नर ।
सप्तलोक वंचित रहैं, यज्ञ सतत सब विपति हर ॥

द्विजातियों के लिये अग्निहोत्र करना—यज्ञानुष्ठान करना—अत्यावश्यक कार्य माना जाता था। यज्ञ के बिना द्विजों का द्विजातित्व नष्ट हो जाता है। द्विजाति उपवीत धारण करते हैं, वह यज्ञ की दीक्षा का प्रतीक है। अर्थात् इन्होंने नित्य नैमित्तिक यज्ञों की दीक्षा ले ली। इसीलिये उपवीत को यज्ञोपवीत भी कहते हैं। गीता में तो कहा है—"यज्ञ के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं,

* जिस समय हव्यवाहन-अग्नि प्रज्वलित हो जाती है तब उसकी ज्वालाय लपलपाने लगती हैं, उसी समय आज्यभाग के अन्तर में आहुतियों को डालना चाहिये।

उनके अतिरिक्त सभी कर्म बन्धनकारक हैं। हमारे लिये पञ्चयज्ञ बलिवैश्वदेव यज्ञ प्रत्येक सद्गृहस्थ द्विजाति के लिये परमावश्यक माना जाता था। ब्रह्मचारी जब तक रहते थे तब तक नित्य समिधान आवश्यक था। जब समावर्तन संस्कार करके विवाह के अनन्तर अग्निहोत्र की दीक्षा ली जाती थी, तो उसे जीवन-पर्यन्त निभाना पड़ता था, उसी अग्निहोत्र की अग्नि से अग्निहोत्री का दाह-संस्कार किया जाता था और उसके साथ ही उसके स्रुक् स्रुवादिक यज्ञीयपात्र भी जला दिये जाते थे। अग्निहोत्र तो आवश्यक नित्य कर्म है। इसके साथ ही बहुत-सी नैमित्तिक इष्टियाँ थीं, जैसा अमावास्या आने पर पितरों के निमित्त दर्शयाग किया जाता था। पूर्णिमा के दिन देवताओं के निमित्त विशेष पौर्णमास यज्ञ किया जाता था। चातुर्मास लगने पर चातुर्मास श्रौतयज्ञ किया जाता था। शरद में और वसन्त में जब खेतों से नया अन्न आता है तब आग्रयण यज्ञ किया जाता था, जिसे नवान्न इष्टि भी कहते हैं। बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, अग्रयण यागों के अतिरिक्त, अश्वमेध,, वाजपेय, राजसूय तथा अन्यान्य भी बहुत से महायज्ञ हैं। पहिले द्विजाति वालों का–उनमें भी विशेषकर ब्राह्मणों का–सम्पूर्ण जन्म यज्ञयागों मे ही व्यतीत होता था। अतः प्रत्येक द्विजाति को यज्ञयागों के सम्बन्ध की जानकारी अत्यावश्यक है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी तथा अन्यान्य मुनियो! महर्षि अङ्गिरा ने अपरा और परा दो विद्यायें बतायीं। अपरा विद्या तो प्रवृत्ति मार्ग, परा विद्या निवृत्तिमार्ग ज्ञानकाण्ड। इनमें से पहिले अपरा विद्या का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् अङ्गिरा कह रहे हैं—"शौनक! यह बात सर्वथा सत्य ही है वेद के मन्त्रों में ऋषियों ने कर्मकाण्ड का उल्लेख देखा था। जिन कर्मों का

विधान उन्होंने देखा उन सब कर्मों का भाँति-भाँति के विधि-विधान और नियमपूर्वक वर्णन तीनों वेदों में नाना प्रकार से व्याप्त है। अतः जो लोग सत्यकामी हैं–उन्हें चाहिये उन यज्ञादि वेदोक्त सुकृत कर्मों का नियमपूर्वक अनुष्ठान किया करें। ससार में नर-तन पाकर जो उसे सार्थक करना चाहते हैं जो शुभकर्म करके उनका पुण्यफल प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये यज्ञ-यागादि द्वारा ही पुण्य प्राप्त करना यही सुखकर सरलमार्ग है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि में जो हवनीय पदार्थों का हवन किया जाता है, वह कब करना चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"अङ्गिरा मुनि ने बताया है, कि अग्नि का नाम हव्यवाहन है। अर्थात् यही हवनीय पदार्थों को जिस देवता के नाम से आहुति दी जाती है, उसे ये ही उस देवता के समीप पहुँचाते हैं। जो पदार्थ अग्नि में जलते नहीं–जिन्हें अग्नि-देव ग्रहण नहीं करते–वे पदार्थ उन देवताओं के पास पहुँचते नहीं। अतः जब तक अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित न हो जाय, जब तक उसमें लपलपाती हुई अर्चियाँ ज्वालायें न फूटने लगें उस समय तक उसमें आहुतियों को न डाले। जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, तब आज्यभाग के स्थान को छोड़कर मध्यभाग में आहुतियों को छोड़ना चाहिये।"

सूतजी ने पूछा—"आज्यभाग क्या ?"

शौनकजी ने कहा—"यजुर्वेद के अनुसार यज्ञों में ऐसा नियम है, कि पहिले प्रजापति के लिये मौनभाव से एक आहुति दी जाती है। पहिले ब्रह्मा के निमित्त "ॐप्रजापतये स्वाहा" इस मन्त्र से मौन होकर एक आहुति दी जाती है। फिर ॐ इन्द्राय स्वाहा" इस मन्त्र से इन्द्र के लिये दो आहुतियाँ दी जाती हैं। इन्हीं का नाम "आघार" है। तदनन्तर "ॐ अग्नये स्वाहा" इस

मन्त्र से आहवनीय अग्नि के उत्तर ओर पूर्वार्द्ध में एक आहुति दी जाती है और "ॐ सोमाय स्वाहा" इस मन्त्र से सोम देवता के निमित्त उसी आहवनीय अग्नि मे दक्षिण की ओर पूर्वार्द्ध मे एक आहुति दी जाती है। ये जो आहवनीय अग्नि मे उत्तर तथा दक्षिण में जो अग्निदेवता को तथा सोमदेवता को जो दो आहुतियाँ दी जाती है उन्हीं का नाम "आज्यभाग है।

सूतजी ने पूछा—"जो लोग नित्य अग्निहोत्र करते हैं, उनके लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ क्या नित्य देनी ही चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"नहीं, नित्य अग्निहोत्र करने वालों के लिये आज्यभाग की दो आहुतियाँ नित्य देने का विधान नहीं है। यहाँ आज्यभाग के स्थान का निर्देश किया। अर्थात् जिन दो स्थानों मे अर्थात्–अग्नि और सोम के निमित्त उत्तर पूर्वार्द्ध और दक्षिण पूर्वार्द्ध मे जो आहुतियाँ दी जाती हैं, उन स्थानों को छोड़कर इन दोनों के बीच में हवन कुण्ड का जो मध्य भाग है जिसे 'आवाप' कहते हैं उसी स्थान मे देवताओं के निमित्त आहुतियाँ देनी चाहिये। यहाँ आहुति देने का स्थान बताने के ही निमित्त आज्यभाग की दो आहुतियों का उल्लेख कर दिया। जो आहिताग्नि हैं–नित्य हवन करने वाले हैं। उनके लिये आज्यभाग की नित्य आहुतियाँ आवश्यक नहीं। जब अग्नि मंद-मंद जल रही हो, तब आहुति न दे। मंद अग्नि में आहुति देने से मंदाग्नि हो जाती है, और बुझी हुई अग्नि में भी आहुति न देनी चाहिये, क्योंकि बुझी अग्नि में दी हुई आहुतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। अतः जब अग्नि भली-भाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमें से लपटें निकलने लगें, तब शास्त्रविधि से हवन करना चाहिये। अविधिपूर्वक दी हुई आहुतियाँ भी निष्फल हो जाती हैं, क्योंकि कर्मकाण्ड में विधिविधान का ही प्राबल्य है। नित्य अग्निहोत्र करने वाले को

अमावास्या का दिन आने पर पितरों के निमित्त दर्श नाम का यज्ञ करना चाहिये, मास की पूर्णिमा आने पर पौर्णमास यज्ञ करना चाहिये। वर्षाऋतु में चातुर्मास लगने पर चातुर्मास्य यज्ञ करना चाहिये। शरद और वसन्त ऋतुओं में जब नया अन्न आ जाय तब नवान्न इष्टि करनी चाहिये जिसे आग्रयण यज्ञ कहते हैं उसे करना चाहिये। अपने यहाँ यज्ञशाला में भोजन के समय में अतिथि आ जाय तो उसका पूजन भोजनादि से आतिथ्य करना चाहिये, यह अतिथि यज्ञ है और नित्य अग्निहोत्र तथा वलिवैश्वदेव तो करना ही चाहिये। जो अग्निहोत्री इन कर्मों को नहीं करता उसकी तीन आगे की तीन पीछे की तथा स्वयं इस प्रकार सात पीढ़ी के लोग नरक में जाते हैं। अथवा उन्हे सातों लोकों का सुख प्राप्त नहीं होता। इसलिये शास्त्रीयविधि से इन अग्निहोत्रादि कर्मों को श्रेयस्कामी गृहस्थी को अवश्य करना चाहिये और यावज्जीवन करते रहना चाहिये। अतः लपटें निकलती हुई अग्नि के मध्य में हवन करे।

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! अग्नि की कै लपटें हैं? उनकी पहिचान रंग आदि बताइये।"

शौनक मुनि बोले—"महर्षि अङ्गिरा ने मुझे बताया अग्नि की सात लपटें हैं, जिन्हें अग्नि की अर्चि अथवा जिह्वा भी कहते हैं। जिह्वा इसलिये कहते हैं, कि इन्हीं के द्वारा अग्निदेव हवनीय पदार्थों को खाते हैं। उन सातों के नाम हैं १-काली, २-कराली, ३-मनोजवा, ४-सुलोहिता, ५-सुधूम्रवर्णा, ६-स्फुलिङ्गिनी, और ७-विश्वरुचीदेवी हैं।"

सूतजी ने कहा—"महाराज! इन अर्चियों का अर्थ भी बताइये।"

शौनकजी बोले—"इनका अर्थ तो इनके नामों से ही सुस्पष्ट

है। जैसे पहिली लपट का नाम काली है। अग्नि से जो काले रंग वाली लपट निकले, उसे "काली कहते हैं। काले रंग वाली (कालः कृष्णवर्णोऽस्ति अस्याः)।

दूसरी लपट, अर्चि अथवा अग्नि की जिह्वा का नाम कराली है। अत्यंत कराल–अति उग्र होने के कारण इसे कराली कहते हैं। यह अग्नि की लपट सहसा ऊपर उठ जाती है इससे अग्नि लग जाने का भय होता है। (कराल+गौरादित्वात् ङीप्)।

तीसरी अर्चि अथवा अग्नि जिह्वा का नाम मनोजवा है, जिसका जव–वेग–चाल मन के सदृश हो अर्थात् जो अत्यन्त ही चचल लपट हो। लपलपाती हुई। (मनोइवजवो यस्याः सा)।

चौथी अग्नि की अर्चि का नाम सुलोहिता है। जो सुन्दर लाली लिये हुए हो, जिस लपट का रग सर्वथा लालवर्ण वाला हो उसी अग्नि जिह्वा का नाम सुलोहिता है। (सुष्ठुलोहिता याःसा)।

पाँचवीं का नाम सुधूम्रवर्णा हे। धूएँ का वर्ण काला भी होता हैं, कुछ सुन्दर काला होता हे जो अग्नि की लपट सुन्दर धूएँ की वर्ण वाली हो वही सुधूम्रवर्णा कहलाती है (सुष्ठु धूम्रवतवर्णो यस्याः सा)।

छठी अग्नि जिह्वा का नाम स्फुलिङ्गिनी हे। किसी लकडी मे स जब अग्नि की लपटें निकलती हैं, तो उसमे से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलती हैं, उन चिनगारियों को ही स्फुलिङ्ग कहते हैं। जिस ज्वाला मे से चटचट शब्द करती हुई चिनगारियाँ निकलें वही लपट स्फुलिङ्गिनी कहलाती हे। (स्फुलिङ्गो अस्या अस्तीति=स्फुलिङ्गिनी)।

सातवीं लपट का नाम विश्वरुचीदेवी है। देवी कहते हैं

देदीप्यमान को जो निश्वतः रुचि सुन्दरतायुक्त प्रकाश वाली ज्वाला हो।

इस प्रकार ये अग्निदेव की सात जिह्वायें हैं। इन सात जिह्वाओं से ही वे हवनीय पदार्थों को ग्रहण करते हैं और जिस देवता के निमित्त जो आहुति दी जाती है उसे उसी देवता के समीप पहुँचा देते है, वे केवल देवताओं के अन्न ढोने के वाहन हैं। देवता उन्हीं के मुख से खाते हैं अतः वे देवमुख भी कहाते हैं। इस प्रकार जो प्रज्वलित अग्नि मे विधिपूर्वक नियमित यथा-काल हवन करते हैं, उस अग्निहोत्री को ये आहुतियाँ अपने साथ लेकर सूर्य की रश्मि बनकर यज्ञकर्ता को उस स्थान तक पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओं के पति ब्रह्मा निवास करते हैं, अथवा देवेन्द्र शतक्रतु जिस स्वर्ग मे रहते हैं। स्वर्गलोक से सत्यलोक के सभी ऊपर के दिव्यलोक स्वर्ग कहलाते हैं।

वे आहुतियाँ देदीप्यमान होकर यज्ञकर्ता को आदरपूर्वक बुलाती हैं। वे कहती हैं—"आइये-आइये, इस ओर पधारिये। तुमने जो अपने सुकृत कर्मों से जिस पवित्र ब्रह्मलोक को प्राप्त किया है यही वह चतुर्मुख ब्रह्माजी का ब्रह्मलोक है। इस प्रकार प्रदीप्त अग्नि में दी हुई आहुतियाँ सूर्य की किरण बनकर देहान्त के पश्चात् यज्ञकर्ता यजमान को आदर-सत्कारपूर्वक बुलाकर वहाँ पहुँचा देती हैं। यही प्रज्वलित अग्नि मे नियमपूर्वक सविधि श्रद्धापूर्वक अग्निहोत्र करने वालों का फल है।"

सूतजी ने पूछा—"भगवन्! इस परमपावन अग्निहोत्र कर्म द्वारा क्या यह संसार-सागर सुगमता से पार किया जा सकता है? क्या केवल अग्निहोत्र द्वारा ही जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिये छूटा जा सकता है? क्या इन कर्मों द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है?"

इन प्रश्नों का जो शौनकजी अङ्गिरा मुनि के मतानुसार उत्तर देंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा ।

छप्पय

सात अगिनि की अर्चि करालौ कालौ जो हैं ।
सुलोहिता अरु सुधूम्रवर्णा मनोजवा हैं ॥
विश्वरुची हू देवि कही पुनि इस्फुलिङ्गिनी ।
सूर्य रश्मि बनि सकल आहुती ब्रह्मगामिनी ॥
ब्रह्मलोक लै जायँ परि, तृद्रनाव डगमग करत ।
अवर करम करि मूढ तस, पुनि जनमत पुनि पुनि मरत ॥

ज्ञानमार्ग की महत्ता

[४४]

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये ।
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ॥
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति ।
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥*
(मु० उ० २ ख० १ मु० ११ मं०)

छप्पय

स्वयं अविद्या निरत अपंडित मानें पंडित ।
खल नर सहि पुनि दुःख जायँ लै अंध अधवत ॥
बाल अविद्या फँसे कृतारथ निजकूँ मानत ।
रागयुक्त करि करम पुन्य छय नीचे आवत ॥
इष्ट पूर्त लख मानि सब, स्वरग जाइँ नीचे गिरत ।
छीण पुन्य भू जनम लै, नाना यौनिनि में फिरत ॥

कर्मकाण्ड का मूल है विधिविधान। शास्त्रोक्त यज्ञ यागादि कर्मों में जो विधि बताई गयी है, उस विधि से जिस कामना की

---

* किन्तु जो अरण्य वन-में बसने वाले, शान्त स्वभाव वाले विद्वान् पुरुष हैं, जो भिक्षा पर निर्वाह करने वाले हैं तथा जो तपस्या और श्रद्धा का सेवन करते हैं वे रजोगुण से रहित होकर सूर्य द्वार से उस स्थान को जाते हैं जहाँ पर वे अमृत अविनाशी पुरुष रहते हैं।

पूर्त के निमित्त कर्म किया जायगा, विधि पूरी होने पर उस कर्म से उतना ही फल मिलेगा, अधिक नहीं, यदि विधि में कुछ गड़बड़ हो गया, तो अविधि यज्ञ से कुछ फल न मिले यही नहीं, उसका परिणाम विपरीत भी हो सकता है। त्वष्टा ऋषि ने इन्द्रहन्ता पुत्र उत्पन्न हो इस कामना से बड़े विस्तार से विधि विधानपूर्वक दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य पचन नामक अग्नि) में हवन किया। वे चाहते थे, जिस इन्द्र ने मेरे पुत्र विश्वरूप को मार डाला है, मैं मन्त्र बल से ऐसा एक पुत्र उत्पन्न करूँ जो इन्द्र को मारकर अपने भाई की मृत्यु का बदला ले सके। उन्होंने हे इन्द्रशत्रो ! तुम्हारी अभिवृद्धि हो और शीघ्र से शीघ्र तुम अपने शत्रु इन्द्र को मार डालो (इन्द्रशत्रो ! विवर्धस्व माचिरजहि विद्विषम) इस भाव का मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति दी। किन्तु एक स्वर शत्रो में अशुद्ध उच्चारण हो गया। उदात्त के स्थान में अनुदात्त हो गया। इसका अर्थ यह हो गया, कि इन्द्र का जो शत्रु है। इससे इन्द्र को मारने वाला उत्पन्न न होकर इन्द्र जिसे मार डाले वह वृत्रासुर उत्पन्न हो गया। जिन यज्ञ यागादि कर्मों में स्वर, वर्ण, विधि, उच्चारण आदि में तनिक विपरीतता होने पर उलटा परिणाम हो सकता है, उन केवल सकाम कर्मों से संसार सागर को कैसे पार किया जा सकता है। इसके लिये ज्ञान अथवा भक्तिमार्ग का ही आश्रय ग्रहण करना होगा।

जब सूतजी ने शौनक मुनि से यह बात पूछी कि स्वर्ग के साधन भूत यज्ञादि सकाम कर्मों से क्या संसार सागर से तरा जा सकता है ? तो उन्होंने जो महर्षि अङ्गिरा से ज्ञान सुना था उसी के आधार पर कहने लगे—"सूतजी ! मुझे अङ्गिरा मुनि ने ऐसा बताया है कि संसार रूपी समुद्र से पार जाने के लिये अठारह वस्तुओं से निर्मित यह नौका है तो सही, किन्तु यह नौका सुदृढ़

नहीं है, इससे कुछ दूर जाकर बड़ा जो पोत है, जहाज है उसमे बैठना पडेगा। भवसागर को पार करने मे वह सुदृढ पोत ही समर्थ होगा यह अष्टादशोक्त यज्ञरूपा नौका दृढ नहीं अवर है नीची श्रेणी की है, जहाज तक पहुँचा सकती है। पूरे समुद्र को पार नहीं कर सकती।

सूतजी ने कहा—"यज्ञ को अष्टादशोक्ता क्यों कहा ?"

शौनकजी ने कहा—"बड़े यज्ञों मे १६ यज्ञकर्ता होते है। ४ प्रधान और तीन तीन उनके सहायक। उनके नाम (१) होता, (२) अध्वर्यु, (३) ब्रह्मा, (४) उद्गाता, (५) प्रशास्ता, (६) प्रतिप्रस्थाता, (७) ब्राह्मणाच्छसी, (८) प्रस्तोता, (९) अच्छावाक, (१०) नेष्टा, (११) आग्नीध्र, (१२) प्रतिहर्ता, (१३) ग्रावस्तुत्, (१४) नेता, (१५) होता, (१६)सुब्रह्मण्य ये १६ तो यज्ञकर्ता हुए, सत्रहवाँ यजमान और अठारहवीं यजमान पत्नी इन अठारहों द्वारा यज्ञयाग सम्पन्न होते हैं, इसीलिये इस यज्ञ रूपी नौका को अष्टादशोक्त कहा गया है। आप ही बतावें सकामभाव से किये जाने वाले यज्ञ याग तो जिस कामना से किये जायँगे, उस कामना की पूर्ति ही करने मे समर्थ होगे, वे ससार-सागर से पार कैसे पहुँचा सकते हैं। जैसे समुद्र मे दूर पार जाने वाला पोत खडा है। उस पर यात्री पदल जाकर नहीं चढ सकते। छोटी छोटी नौकाओं द्वारा उस पोत के पास जाया जा सकता है, उसमें से उतर कर बडे पोत पर चढ जाओ तो समुद्र पार पहुँच जाओगे। यदि छोटी ही नौका को तुम लेकर समुद्र पार जाने को चल पडो तो वह छोटी नौका सुदृढ तो है नहीं। समुद्र की लहरें उसे पुनः किनारे पर पहुँचा लावेंगी, या प्रबल चपेटों के चक्कर में पड गयी तो डूब भी जायगी। इसी प्रकार कर्मकाण्ड से अन्तःकरण की शुद्धि हो सकती है, उसके द्वारा तुम ज्ञानरूप सुदृढ पोत पर चढ़ सकते हो

उससे भवसागर को पार कर सकने में समर्थ हो सकते हो। तुम चाहो कि सकाम कर्म रूपी छोटी नौका से ही पार हो जायँ, तो उस अदृढ़, अस्थिर सकाम कर्मरूपी अवर नीची श्रेणी की नौका म तुम्हारा मनोरथ सिद्ध न होगा। यह तुम्हारी मूर्खता ही मानी जायगी। जो लोग मूढ़ हैं, वे ही सकाम कर्मों को श्रेयस्कर मान-कर उनकी प्रशसा करते हैं, वे मूढ़ लोग बारम्बार जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं, अर्थात् भवसागर से पार न होकर पुनः-पुनः जन्मते और मरते रहते हैं।

सूतजी ने पूछा—"वे किस प्रकार दुःखों को भोगा करते है ?"

शौनकजी ने कहा—"बात यह है, कि विद्या तो वह है जो हमें मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाय। सकाम कर्म तो कामना की ओर-बन्धन की ओर-ले जाने वाले हैं। किन्तु वे कर्माभिमानी मूढजन स्वयं तो अविद्या में स्थित हैं, लगाते हैं अपने को धीर पुरुष। स्वयं तो मूर्ख हैं, किन्तु मानते हैं अपने को पडित पुरुष। ऐसे पठित मूर्खजन जन्म लेकर बारम्बार नाना भाँति की यात-नाओं को सहते हैं। वे उसी प्रकार संसार में भटकते रहते हैं, जिस प्रकार अन्धे नेता के पीछे अन्धे अनुयायी चलकर अपने गन्तव्य स्थान तक तो पहुँच नहीं सकते। बीच में ही कहीं कूआ आदि में अटके रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे लोग जब भटकते हैं भाँति-भाँति के कष्ट उठाते हैं, तो फिर उधर से लौट क्यों नहीं आते ?"

शौनकजी ने कहा—"लौटे कैसे ? मूर्खों ने तो उनके कान भर दिये हैं, सकामकर्मों की प्रशसा के पुल बाँध दिये हैं। उनके मन म ये बातें दृढ़ता से बैठा दी है। चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले अक्षय सुख के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार वे बाल बुद्धि वाले बहुत प्रकार से नाना सकाम कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं, उन्हीं में

लगे रहते हैं। वे अभिमानपूर्वक कहते हैं हम कृतार्थ हो गये' क्योंकि वे सकामकर्मी लोग रागवश कल्याण मार्ग से अनभिज्ञ बन रहते हैं। इस कारण वे पुनःपुनः आतुर होकर पुण्य क्षीण हो जाने पर फिर इन्हीं नीचे के लोकों में गिरा दिये जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वे यज्ञ याग, दान धर्म कार्य तो अच्छे करते हैं, फिर गिराये क्यों जाते हैं।'

शौनकजी ने कहा—"अच्छे कर्मों का फल स्वर्ग है, बुरे कर्मों का फल नरक है। मुक्ति के लिये तो अच्छे बुरे दोनों से ही पृथक् होना पड़ेगा। कर्म सकाम भाव से किये जायँगे, तो कभी न कभी इनका फल समाप्त होही जायगा। पुण्यकर्म धन के समान हैं, तुम्हारे पास कितना भी धन है यदि उसे व्यय करते रहोगे तो देर सबेर कभी न कभी तो वह समाप्त ही हो जायगा। अच्छे कर्म दो प्रकार के होते हैं एक तो परोपकार की भावना से किये गये, पूर्त कर्म जैसे बावरी, कुआ, तालाब बनवाना, मंदिर, आराम बाग-बगीचा धर्मशालादि बनवाना। दूसरे इष्टकर्म यज्ञयागादि श्रुति के अनुसार किये हुए श्रौतकर्म। ये दोनों ही प्रकार के कर्म पुण्यप्रद हैं। इनसे इस लोक में कीर्ति और परलोक में दिव्य भोग प्राप्त होते हैं, किन्तु ये सब क्षयिष्णु हैं। पुण्य क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक में ही आना पड़ेगा। किन्तु जो सकाम कर्मों के ही दुराग्रही हैं वे लोग इष्ट और पूर्त कर्मों को ही वरिष्ठ-श्रेष्ठ-मानते हैं, वे मूढ इन्हें ही सब कुछ मानते हैं, इन कर्मों के अतिरिक्त वे दूसरा श्रेयस्कर कोई मार्ग और भी है इस पर विश्वास नहीं करते। क्योंकि उनकी आसक्ति कर्मों में ही है। स्वर्गीय सुख ही उनके लिये सबसे श्रेष्ठ सुख है। स्वर्ग में चला जाना ही उनका अन्तिम ध्येय है। अपने दुराग्रह के कारण वे शुभ कर्मों के फल स्वरूप स्वर्गीय सुखों को भोगकर-वहाँ के दिव्य भोगों का अनुभव

करके-जब पुण्य क्षीण हो जाते हैं, तब देवयोनि से हीनतर यहाँ पृथ्वी की अन्य योनियों मे आकर पुनः जन्म लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जो लोग फल की इच्छा से सकाम कर्मों को नहीं करते उनकी कौन गति होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो लोग मन मे स्वर्ग और नरक की कुछ भी कामना न रखकर निष्काम भाव से अरण्य मे वास करते हैं, ऐसे शांत स्वभाव के विद्वान् पुरुष अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं करते। वे अपनी उदरपूर्ति भी केवल भिक्षान्न से करते हैं। संयम और श्रद्धा के सहित अपने नित्य कर्मों को करते रहते हैं, मन में किसी भी प्रकार की शुभ अथवा अशुभ कामना नहीं करते, ऐसे रजोगुण से रहित तपस्वी सूर्य द्वार द्वारा जाकर उस स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ पर वे जन्म मृत्यु से रहित होकर अव्ययात्मा पुरुष-परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"वहाँ जाने के लिये साधन कौन-सा करना चाहिये ? इसके लिये किसकी शरण लेनी चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"पहिले तो श्रेयस्कामी ब्रह्म को जानने की अभिलाषा करने वाले साधक को इन स्वर्गादि अनश्वर लोकों की परीक्षा करनी चाहिये। अर्थात् विवेक विचार के द्वारा इन स्वर्गादि लोकों का परिणाम क्या होता है इस विषय पर शान्ति-पूर्वक मनन करना चाहिये। जब इन स्वर्गादि लोकों की नश्वरता का ज्ञान हो जाय, तो संसार के सभी भोगों मे वैराग्य को धारण करले। यह निश्चय करले कि जो परब्रह्म परमात्मा स्वयं अकृत है, जो स्वयं सभी प्रकार के कर्मों से रहित है, वह सकाम कर्मों द्वारा—नश्वर कर्मों से—कैसे प्राप्त हो सकता। उसकी प्राप्ति के लिये तो साधक को स्वयं भी निष्काम बनना होगा। जब इस प्रकार संसार से—नश्वरकर्मों से—विरक्ति हो जाय, तो उस परब्रह्म पर-

त्मा के विशेष ज्ञान के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप समित्पाणि होकर-उनके लिये कुछ भेंट लेकर-विनयपूर्वक जाय।"

सूतजी ने पूछा—"संसार से विरक्त होकर श्रद्धा भक्ति के साथ श्रेयस्कामी शिष्य जाय, यह तो शिष्य का कर्तव्य हो गया। ऐसे निष्काम, श्रद्धालु शिष्य को पाकर गुरु क्या करे। गुरु का क्या कर्तव्य है, इस विषय में भी कुछ बताइये। गुरु के कर्तव्य पर भी तनिक प्रकाश डालिये।"

शौनकजी ने कहा—"गुरु को चाहिये कि जब ऐसा त्यागी, विरागी, विचारशील शिष्य अपनी शरण में आवे, तो उन महात्मा को चाहिये इस सम्यक् प्रशान्त चित्त वाले, मन और इन्द्रियों को वश में करने वाले शरणागत शिष्य को उस ब्रह्म विद्या को तत्त्वतः कहे। जिससे वह शरणागत शिष्य अक्षर सत्य परम-पुरुष परमात्मा को जान जाय।"

सूतजी ने पूछा—"वह सत्य है क्या ?"

शौनकजी ने कहा—"वह सत्य क्या है, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

जे तप श्रद्धायुक्त वास वन करत शान्तचित।
सूर्य द्वार तैं जायँ अमृत अव्यय आत्माजित ॥
करम प्राप्त सब लोक रहस लखि धरि विराग चित।
कस करमनि तैं अकृत पाइ गुरु ढिँग सुज्ञान हित ॥
ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय समित्-पाणि जाइ श्रद्धा सहित।
ताहि ब्रह्म विद्या सकल, गुरु सिखवें सतशिष्य हित ॥

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

प्रथम मुण्डक समाप्त ॥

द्वितीय मुण्डक
प्रथम खण्ड
सब ब्रह्म ही ब्रह्म है

[४५]

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥*

(मु० उ० २ मु० १ ख० २ म०)

छप्पय

दीप्ति अगिनि सत सहस उठें चिनगारी जैसे ।
अक्षर तैं बहु भाव उदित लय होवें तैसे ॥
दिव्य पुरुष नहिं मूर्त सकल जग बाहिर भीतर ।
अज, अप्रान, मन रहित शुभ्र, अक्षर-परतैं पर ॥
परमेश्वरतैं प्रान मन, इन्द्रियगन आकाश पुनि ।
वायु, ज्योति, जल, विश्व की-धारक पृथिवी भई मुनि ॥

वट का वृक्ष है, उसमें स्कन्ध (तना) है, छोटी बड़ी बहुत-सी शाखायें, उपशाखायें तथा प्रोपशाखायें हैं, उन सभी शाखाओं में पत्ते हैं, फल हैं,जड़ हैं, लटायें हैं,वल्कल हैं, दूध है । इन सबको

---

* वह पूर्ण पुरुष दिव्य, अमूर्त जगत् के बाहर भीतर व्याप्त, अज, अप्राण, अमन, शुभ्र तथा अक्षर जो जीवात्मा है उससे अत्यन्त ही श्रेष्ठ है ।

मिलाकर—इन सबका संघात रूप वटवृक्ष है। अब इसमे से कोई एक ऐसी वस्तु हो, जिस एक के जान लेने पर समस्त वटवृक्ष का ज्ञान हो जाय, तो वट के पके फल को तोड़कर उसमे से एक छोटा-सा नन्हा-सा बीज निकाल लीजिये। उस एक ही बीज से यह इतना बडा वटवृक्ष वन गया है, बीज को उर्वरा भूमि में मिला दिया। जल दे दिया। उपयुक्त खाद्य तथा जल मिलने से वह बीज अकुरित होकर शनैः-शनैः काल पाकर अकुर हो जायगा, बडा होता जायगा, पल्लवित होने लगेगा, फल आने लगेंगे, स्कन्ध मोटा होने लगेगा, शाखायें-प्रशाखायें फूटने लगेंगी। वृक्ष बन जाने पर फिर आप उसकी जड को खोजो तो वह बीज फिर नहीं मिलेगा, वह बीज कहाँ गया, वह नन्हा बीज ही वृहद् होकर वृक्ष बन गया है। विनाश होते समय वृक्ष बीजों को छोड जायगा, उनसे पुनः वृक्ष बन जायँगे। इसी प्रकार यह वृक्ष रूप विश्व ब्रह्माण्ड है। इसके बीज परब्रह्म परमात्मा है। परमात्मा ही जगत् बन गये हैं। परमात्मा से ही जगत् की उत्पत्ति है, उन्हीं से जगत् की स्थिति हे और अन्त मे उन्हा में जाकर जगत् विलीन हो हो जाता है। अतः एक ब्रह्म को जान लेने पर जगत् के सभी पदार्थों की जानकारी प्राप्त हो सकती है।

सूतजी ने जब पूछा—"श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर शिष्य पर विद्या के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करे और सत्गुरु उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें यह बात आपने बतायी। अब प्रश्न यह है, कि वह परविद्या या ब्रह्मविद्या है क्या ?"

सूतजी के ऐसा पूछने पर शौनक मुनि कहने लगे—"महर्षि अङ्गिरा ने हमें इस सम्बन्ध में बताते हुए कहा था—हे सौम्य शौनक! मैं तुम्हें बार बार अनेक दृष्टान्त देकर बता चुका हूँ, कि यह ब्रह्म सत्य है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं परब्रह्म से हुआ है।

जैसे सुदीप्त अग्नि है। अग्नि मे यथेष्ट ईंधन पड़ा है, इसके कारण ऊँची-ऊँची लपटें उठ रही हैं। कुछ लकड़ियाँ ऐसी होती हैं, कि उनके पड़ते ही चटचटाने लगती हैं। चटचट शब्द करते हुए उस सुदीप्त पावक से उसी के रंग रूप की सहस्रों विस्फुलिङ्ग चिनगारियाँ—छोटी बड़ी अनेकों प्रकार की उत्पन्न होती है, वे अग्नि से ही उत्पन्न होकर अन्त मे अग्नि मे ही मिल जाती हैं, उसी प्रकार इस अविनाशी अक्षर परब्रह्म परमात्मा से संसार के विविध भाव उत्पन्न होते है और अन्त मे उन्हीं मे जाकर विलीन हो जाते हैं। अतः वह ब्रह्म ही—परब्रह्म परमात्मा ही सबका आदि कारण है और उन्हे ही जान लेने पर संसार के सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है ?"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अङ्गिरा मुनि ने बताया यह पूर्णपुरुष परब्रह्म परमात्मा दिव्य है, उसका कोई एक आकार-प्रकार नहीं, वह अमूर्त है। यह बात नहीं कि वह जगत के भीतर ही भीतर रहता हो, वह जगत् के भीतर भी है, बाहर भी है यत्र-तत्र-सर्वत्र है। जीव तो कर्माधीन होकर नाना योनियों मे उत्पन्न होते हैं, किन्तु वह कर्मों में लिप्त नहीं होता। कर्म उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते, अतः वह प्राकृत जन्म से रहित है, अज है। प्राण तो शरीर-धारियों के शरीर में ही विचरण करते हैं, किन्तु वह अशरीरी होने के कारण प्राण रहित है। देह का सम्बन्ध इन्द्रियों और मन के साथ है अतः देहरहित होने के कारण वह मन से भी रहित है। देह मलायतन है, किन्तु वह सर्वथा विशुद्ध है, परमशुभ्र है। इसीलिये अक्षर होने पर भी जो नाना योनियों में भटकने वाला जीवात्मा है, उससे यह परब्रह्म परमात्मा अत्यन्त श्रेष्ठ है, परात्पर है।"

सूतजी ने पूछा—"यह तो निराकार परब्रह्म परमात्मा का वर्णन हुआ। वह तो इन्द्रियों से परे है, अगोचर है। उस निराकार से यह साकार जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?"

शौनकजी ने कहा—"उस निराकार अज, अव्यक्त, अशरीरी परब्रह्म से सर्वप्रथम प्राणों की उत्पत्ति हुई। प्राणों की तृप्ति के लिये अन्न और अन्न से मन की उत्पत्ति हुई। अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार रूप अन्तःकरण चतुष्टय बना। तदनन्तर कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय भेद से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई। फिर सबको अवकाश देने वाले आकाश की उत्पत्ति हुई। आकाश से सर्वत्र विचरण करने वाले प्राणों का संचार करने वाले वायुदेव की उत्पत्ति हुई। वायु से सबको प्रकाशित करने वाले तेज की उत्पत्ति हुई। उस ज्योति से ही समस्त भुवन को जीवन प्रदान करने वाले जल की उत्पत्ति हुई और उस अनन्त अगाध जल से ही सम्पूर्ण चराचर के प्राणियों को धारण करने वाली पृथ्वीदेवी की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति कहना तो उपलक्षण मात्र है, वे निराकार ब्रह्म ही विराट्‌रूप में परिणत हो गये। वे अब पुरुषाकार हो गये।"

पुरुष का जैसे मूर्धा मस्तक होता है, वैसे ही अग्नि उन विराट्‌पुरुष का मस्तक है। मस्तक में दो नेत्र होते हैं, जो प्रकाशक हैं, जिनके द्वारा सब कुछ देखा जा सकता है। अतः सूर्य और चन्द्रमा उस विराट्‌पुरुष के दोनों नेत्र हैं। ये विराट्‌पुरुष अनन्त मुख वाले हैं, इसलिये इनके कान भी अनन्त ही होंगे, अतः समस्त दिशायें ही इन विराटपुरुष के कान हैं। ये जो विस्तृत वेद हैं वे ही इनकी बोलने की वाणी हैं। शरीर में जैसे प्राण रहते हैं उन प्राणों के स्थान में ही सर्वत्र गमन करने वाली वायु विराट्‌पुरुष के प्राण हैं यह जगत् उनका हृदय है। पृथ्वी

उनके चरण स्थानीय हैं। यही सर्व भूतान्तरात्मा समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है। इस प्रकार यह व्यक्त जगत् ही उन अमूर्त ब्रह्म की व्यक्त मूर्ति है।

यह जगत् क्या है एक प्रकार यज्ञ है। यज्ञ में अरणि से अग्नि उत्पन्न होती है। अतः उस ब्रह्मरूप अरणि से प्रथम यज्ञाग्नि उत्पन्न हुई। यज्ञ में अग्नि के जलाने के लिये समिधा चाहिये, सो सूर्य ही मानों उनकी समिधा हैं। सोम यज्ञ में सोम की आवश्यकता होती है अतः अग्नि से–प्रकाश से–सोम उत्पन्न होता है। यज्ञ से धूम उत्पन्न होता है। अतः सोम से पर्जन्यमेघ उत्पन्न होते हैं। धूम से वर्षा होती है उस वर्षा का फल यह होता है, उससे पृथ्वी पर नाना प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे यज्ञ से देवता सन्तुष्ट होकर वर्षा करते हैं, वर्षा से अन्न और अन्न से प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार ब्रह्मयज्ञ से औषधियाँ उत्पन्न होती हैं। उन औषधियों के सार से वीर्य उत्पन्न होता है। उस वीर्य को पुरुष स्त्री में सिंचन करता है। गर्भ का आधान करता है। जैसे पुरुष से नाना प्रकार की प्रजाओं की–सन्तानों की–उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषोत्तम से इस प्रजारूप इस विश्वब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जगत् की उत्पत्ति के मुनियों ने अनेक प्रकार बताये हैं। सबका सार यही समझना चाहिये कि सब कुछ परब्रह्म से ही हुआ है। जैसे अमूर्त अग्नि ईंधन जैसा होता है उसी के आकार-प्रकार की बनकर प्रकट हो जाती है, फिर अपने अव्यक्त रूप में विलीन हो जाती है।"

सूतजी ने पूछा—"आपने ब्रह्म को यज्ञमय बताया है, यज्ञ की क्या आवश्यकता है?"

शौनकजी ने कहा—"यज्ञ ही तो आधार है, यज्ञ से ही तो

सबकी रक्षा होती है। यज्ञ ही तो एकमात्र कर्तव्य है। यज्ञ के लिये किये हुए कर्म के अतिरिक्त और जो कर्म हैं, वे तो लोक मे बन्धन के हेतु हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यज्ञयागादि की, उनके साधन और फल की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई होगी, क्योंकि सबके उत्पादक वे ही हैं, अतः उनकी उत्पत्ति का भी प्रकार बताइये।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, यज्ञ, उसके साधन, उसके फलादि की उत्पत्ति भी उन्हीं परब्रह्म से हुई है। इस विषय का वर्णन आगे करेंगे।"

छप्पय

अग्नि माथ हैं आँखि चन्द्र रवि कान दिशा-वर।
प्रकट वेद तिनि वाक वायु हैं प्रान देहधर॥
सकल विश्व तिनि हियो हिये में सकल छिपावें।
उभय चरन भू करी ताहि पै आवें जावें॥
पग तें भू आत्मा सकल, तातें पावक समिध रवि।
सोम अगिनितें मेघ तिहि, भू ओषधि तिहि रेत कवि॥

यह विश्व परम पुरुष ही है

[४६]

पुरुष एवेदं विश्व कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहित गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि
विकिरतीह सोम्य ।।*

(मु० उ० २ मु० १ खं० १० मं०)

छप्पय

पुरुष नारि में करै रेत सिंचन शिशु होवै ।
त्यों यह सबरी प्रजा ब्रह्मतैं परगट होवै ।।
ऋक्, यजु, साम, अथर्व सु-दीक्षा, यज्ञ क्रतव-तव ।
भई-दक्षिणा, काल, फेरि यजमान, लोक सब ।।
लोकनि में रवि शशि प्रभा, छिटकावें सुरगन भये ।
साध्य, मनुज, पशु, पक्षि पुनि, प्रान अपानहु ह्वै गये ।।

एक ही बात को बार-बार भिन्न भिन्न दृष्टान्त देकर समझाया जाता है। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, क्योंकि जो विषय गूढ है, गहन है स्थूल बुद्धि वाले जिसे सहज में ग्रहण

---

* तप, कर्म, परम अमृत रूप ब्रह्म यह दृश्यमान विश्व सभी कुछ पुरुषोत्तम ही है। हे सोम्य ! इस हृदय गुफा में स्थित जो ब्रह्म है उसे जो जानता है, वही यहाँ अविद्या ग्रन्थि को खोल डालता है।

नहीं कर सकते उसे युक्तियों से विविध कथानक कहकर पुनः-पुनः समझाया जाता है। विषय एक ही है। सब कुछ ब्रह्म ही का पसारा है, ब्रह्म ही नाना रूप रखकर भास रहा है। उसी से समस्त विश्व ब्रह्माण्ड बने हैं। इसे एक प्रकार से समझाते हैं, फिर दूसरे प्रकार से इसकी पुष्टि करते हैं।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने चराचर विश्व की उत्पत्ति बताते हुए सोम से पर्जन्य, उससे पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधियों और ओषधियों से वीर्य की उत्पत्ति बतायी और वीर्य से ही समस्त चराचर जीव उत्पन्न हुए। यहाँ तक तो समस्त प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम वर्णन किया।

अब जो समस्त प्रजा उत्पन्न हो गयी, उसकी रक्षा कैसे हो, रक्षा का एकमात्र उपाय है यज्ञ यागादि, इसलिये यज्ञादि साधन और उनके फलों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने बताया-अङ्गिरा मुनि ने मुझसे कहा वत्स! जब परब्रह्म परमात्मा से भाँति के चर-अचर स्थावर-जंगम जीव उत्पन्न हो गये तदनन्तर उन्हीं परब्रह्म परमेश्वर से ऋग्वेद की ऋचायें उत्पन्न हुईं। जिन ऋचाओं से देवताओं की स्तुति की जाती है। (ऋच्यन्ते स्तूयन्ते देवा अनया) इसके अनन्तर सामवेद के मन्त्रों की उत्पत्ति हुई। यह वेद गेय हैं। सामवेद सस्वर गाया जाता है। इसके गान को श्रवण करके दुखों का नाश हो जाता है। इसको धारण करना इसका समझना कठिन है दुःख देने वाला है, इसलिये भी इसकी साम संज्ञा है। (स्यति-छिनति दुःख गेयत्वात् इति साम, अथवा स्यति दुःखयति दुरध्येयत्वात् इति-साम) सामवेद के अनन्तर यजुर्वेद की श्रुतियाँ उत्पन्न हुईं। इसमें यज्ञ यागादि की विधियाँ हैं जिन मन्त्रों के द्वारा यजन किया जाता है उन्हें यजु कहते हैं (इज्यते अनेन इति यजुः) इस प्रकार वेदत्रयी के उत्पन्न

होने के अनन्तर दीक्षा की उत्पत्ति हुई। यज्ञादि शुभकर्म करने के पूर्व यजमान प्रायश्चित्तादि करके सङ्कल्पपूर्वक उस अनुष्ठान के नियमों का पालन करने का जो व्रत लेता है, उसी का नाम दीक्षा है, वह यज्ञादि शुभकर्मों के आरम्भ करने के पूर्व ही ली जाती है। तदनन्तर समस्त यज्ञों की उत्पत्ति हुई। जिसमें शास्त्रीय विधिविधान पूर्वक हवि दी जाय, उसका नाम यज्ञ है। (इज्यते-हविर्दीयते यत्र इति यज्ञः अथवा इज्यन्ते देवता यत्र इति यज्ञः) फिर क्रतु हुए। वैसे यज्ञ और क्रतु दोनों पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु यज्ञ में और क्रतु में इतना ही अन्तर है, कि जिनमें पशुओं के बाँधने का यूप बनाया जाता है उसे क्रतु कहते हैं। (क्रियते असौ-इति क्रतुः यज्ञ विशेषः) यज्ञ और क्रतु के अनन्तर दक्षिणा की उत्पत्ति हुई। यज्ञ कराने के अनन्तर यज्ञकर्ताओं को यजमान जो श्रद्धापूर्वक द्रव्यादि देता है उसका नाम दक्षिणा है। दक्षिणा से कर्म की वृद्धि होती है (दक्षते इति-दक्षिणा)।

इतने सब यज्ञ के सभार होने पर संवत्सर रूप काल की उत्पत्ति हुई। फिर यज्ञ करने वाला यजमान हुआ। अर्थात् जो यज्ञानुष्ठान की दीक्षा ले, व्रत धारण करे (यजतीति यजमानः) याग स्वामी फिर यज्ञ के फलस्वरूप जो लोक प्राप्त होते हैं, उन लोकों की उत्पत्ति हुई। ऐसे लोक जहाँ सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश प्रदान करते हैं अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाते हैं।

इस प्रकार यज्ञ सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति बताकर समस्त प्राणियों को अङ्गिरा मुनि ने उत्पत्ति बताई।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से अनेक प्रकार के देवताओं की उत्पत्ति हुई। इन देवताओं के ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, उनचास मरुत तथा अश्विनी कुमार आदि ये सब सम्मिलित हैं, गन्धर्व, यक्ष, किंनर गुह्यकादि उपदेव हैं। अतः देवताओं की

की संख्या बहुत हैं। तदनन्तर १२ साध्यगण उत्पन्न हुए। उनके नाम मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, अपान, भक्ति, भय, अनघ, हंस, नारायण, विभु और प्रभु हैं। ये भी देवता विशेष ही हैं। (साध्य अस्ति अस्य इति साध्यः) तदनन्तर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। फिर पशुओं की इसके पश्चात् आकाश में उडने वाले पक्षियों के गण उत्पन्न हुए। फिर प्राण अपानादि शरीर में रहने वाली दश विध प्राण उत्पन्न हुए। तदनन्तर धान्य जौ आदि अन्न हुए। फिर तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि आदि समस्त सद् गुण उत्पन्न हुए।

उन्हीं परब्रह्म परमात्मा से सात प्राण उत्पन्न हुए। अर्थात् मरुत् के सात-सात गण (४९ वायु) अग्नि की काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, और विश्वारुची देवी ये सात आर्चियाँ उत्पन्न हुईं। अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पीपल, उदुम्बर और शमा ये सात समिधायें उत्पन्न हुईं। फिर अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, पशुयज्ञ और सोमयज्ञ ये सात प्रकार के हवन हुए। फिर भू, भुव, स्व, मह, जन तप और सत्य ये सात लोक हुए। जिनमें ये सातों प्राण विचरते रहते हैं, हृदय रूपी गुफा में शयन करने वाले ये सात-सात सभी प्राणियों में निहित हैं।

अथवा कान, त्वचा, नेत्र, रसना घ्राण, वाणी और मन ये सात प्राण हैं अर्थात् विषयों को प्रकाशित करते हैं। मनन करना शब्दों को सुनना, स्पर्श का अनुभव करना, वस्तुओं को देखना, रसों का स्वाद लेना, गन्ध को सूँघना और शब्दों को बोलना, ये सात विषय वृत्तियाँ हैं ये ही सात आर्चियाँ हैं। सात समिधा भी ये ही सातों वृत्तियाँ हैं। उनका सात इन्द्रियों के विषय रूप सात समिधाओं से सात प्रकार का हवन, सात इन्द्रिय रूप

अग्नियों मे जलाना है। इन उपर्युक्त सात इन्द्रियों का वासस्थान ही इनके सात लोक हैं। निद्रा के समय ये सभी मनके साथ हृदय रूपी गुफा में सो जाते हैं। इस प्रकार यह सात-सात का समुदाय सर्वात्मा सर्वेश्वर द्वारा ही समस्त जीवों में सन्निहित है।

जिस प्रकार ये भीतर की वस्तुएँ परब्रह्म परमात्मा से उत्पन्न हुई उसी प्रकार बाहर की भी वस्तुएँ जैसे सात समुद्र, समस्त पर्वत, अनेक रूपों वाली अनेकों नदियाँ, सम्पूर्ण ओषधियाँ तथा सम्पूर्ण रस भी उन्हीं से उत्पन्न हुए। जिन रसों वाले शरीरों में यह अन्तरात्मा, परब्रह्म, परमात्मा समस्त भूतों में विराजमान रहता है।

इसलिये तप रूप मे भी वही ब्रह्म है, कर्म रूप मे भी वही परमात्मा है, परम अमृत रूप भी वही अखिलात्मा है, ब्रह्म, विश्व और पुरुष रूप में भी वही पुरुषोत्तम है, हे प्रियतम ! वह पुरुषोत्तम सब की हृदय रूप गुफा में अन्तर्यामी रूप में विराजमान रहता है। जो उस गुफा में छिपे हुए सर्वान्तर्यामी सर्वेश्वर को जान लेता है, वह इसी लोक में कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि जड और चेतन्य के बीच मे जो एक ग्रन्थि पड गयी है, उस अविद्या ग्रन्थी को आत्मज्ञानी ही खोलने में समर्थ हो सकता है। जिसने उस परमात्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, वह कदापि उस अविद्या ग्रन्थि को नहीं खोल सकता।

सूतजी ने कहा—"भगवन ! उस आत्मा के ज्ञान को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय में महामुनि अंगिरा ने जो हमें साधन युद्ध करके आत्म विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया है, उसका वर्णन मैं आप सबसे आगे करूँगा। आशा है आप मन इस विषय को समाहित चित्त से श्रवण करेंगे।

छप्पय

पुनि जौ, धान हु अन्न तपस्या, श्रद्धा, विधि सब ।
ब्रह्मचर्य, सत, सप्त-प्रान ज्वाला सप्तहु तब ॥
सदा समिध अरु होम, लोक, हिय दरी बिराजत ।
पुनि समुद्र, गिरि, नदी, औषधी, रस, उपजावत ॥
रस सपुष्ट शरीर महँ, आत्मा सब भूतनि बसत ।
ब्रह्म-अमृत तप करममय, हिय दरि थित लखि ब्रह्मवित ॥

द्वितीय मुन्डक का

प्रथम खण्ड समाप्त

ब्रह्मलक्ष्य-बेध

[४७]

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥*

(मु० उ० २ मु० २ ख० ४ मं०)

छप्पय

ब्रह्म गुहाचर-निकट-प्रकाशक सबहिँ समरपित ।
सर्वाश्रय, धी-परे, श्रेष्ठतम, वरण, असत, सत ॥
दीप्तिमान, अतिसूक्ष्म, लोक सब जीव ताहि थित ।
वही प्रान, मन, वाक्, सत्य, अम्मृत, बुध वेधत ॥
प्रणव-धनुप शर-आतमा, ब्रह्म लक्ष्य मद मोह तजि ।
बींधो साधक सम्हरिकैं, शर-वत्, तन्मय होहि भजि ॥

एक बार द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों की लक्ष्यवेध की परीक्षा ली । एक बनावटी पक्षी को एक बड़े वृक्ष के ऊपर बिठाकर बाँध दिया । फिर अपने शिष्यों से कहा - "देखो, इस पेड़ पर यह पक्षी बैठा है, इसकी बाँईं आँख को लक्ष्य बनाकर बेधना है ।

---

* प्रणव-ओंकार ही मानो धनुष है, आत्मा बाण स्थानीय है । ब्रह्म—परमात्मा—ही उसका लक्ष्य कहा जाता है । उस लक्ष्य को अप्रमत्त होकर ही बींधना चाहिये । और उस लक्ष्य में बाण की ही भाँति तन्मय हो जाना चाहिये ।"

दुर्योधन ! पहिले तुम धनुष पर बाण चढाकर लक्ष्यवेध करो, किन्तु जब तक मैं कहूँ नहीं तब तक बाण मत छोड़ना।"

दुर्योधन आया, उसने धनुष पर बाण चढाया गुरु की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। गुरु ने पूछा—"वत्स ! तुम मुझे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ, गुरुदेव ! आप सम्मुख खड़े हैं, मैं आपको देख रहा हूँ।"

गुरु ने फिर पूछा – "वृक्ष को देख रहे हो ?"

उसने कहा –"हाँ मै वृक्ष को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने पूछा—"जिस डाली पर पक्षी बैठा है, उसे देख रहे हो ?"

उसने कहा—"हाँ डाली को भी देख रहा हूँ और डाली पर बैठे पक्षी को भी देख रहा हूँ।"

गुरु ने कहा—"बाण को धनुष से उतार कर तूणीर में रख लो, अपने स्थान पर आ जाओ।"

दुर्योधन के हट जाने पर अन्य शिष्यों को बुलाया। उनसे भी ये ही प्रश्न किये। किसी ने कहा—"में वृक्ष को देख रहा हूँ, किसी ने कहा मैं केवल उस डाली को देख रहा हूँ, किसी ने कहा—मैं पक्षी को ही देख रहा हूँ।"

गुरु ने सबको अपने अपने स्थानों पर लौट आने का आदेश दिया। फिर अर्जुन को बुलाया, और उससे भी ये ही प्रश्न किये। तब लक्ष्य वेध के लिये प्रमाद रहित होकर धनुष पर बाण चढाये ही चढाये अर्जुन ने कहा—"भगवन ! मै न अपने साथियों को देख रहा हूँ। न आपको, न वृक्ष को, न वृक्ष की शाखा को और न पक्षी को ही देख रहा हूँ, में केवल पक्षी की बॉई ऑख को ही देख रहा हूँ, क्योकि मेरा लक्ष्य वृक्ष, डाली, पक्षी नहीं है,

मुझे तो केवल पक्षी की बाँई आँख को ही वेधना है, वही एकमात्र मेरा लक्ष्य है।

गुरु ने आगे बढ़कर शिष्य को हृदय से लगा लिया और कहा—"वत्स ! वास्तव मे तुम ही एकमात्र लक्ष्य को बींधने में समर्थ हो सकते हो। जिसकी दृष्टि, जिसके बाण का निशान अपने लक्ष्य में पूर्णतया तन्मय नहीं हो जाता, वह अपने लक्ष्य वेधने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता। अतः लक्ष्य वेध के लिये अप्रमत्त होकर तन्मयता की ही आवश्यकता है।"

शौनकजी कह रहे हैं—सूतजी ! आपने ब्रह्मप्राप्ति का साधन पूछा था। यही बात मैंने भगवान् अङ्गिरा मुनि से पूछी थी। उन्होंने बताया—"सौम्य ! वह ब्रह्म कहीं दूर नहीं है। अपने से वह अत्यन्त ही निकट है। वह कहीं अधकार में छिपा हुआ भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है। उसका नाम गुहाचर है। अपने अत्यन्त ही निकट हृदयरूपी गुफा है, उसी में वह स्थित रहता है इसीलिये लोग उसे गुहाचर कहते हैं। वह महत्-पद है अर्थात् महान् पदवी वाला है। एकमात्र वही प्राप्त करने योग्य है। जितने भी जगत् जीव हैं। जो चेष्टा करते हैं, श्वास लेते हैं, आँखों को खोलते मींचते हैं, वे सबके सब उन्हीं पर-ब्रह्म परमात्मा में समर्पित हैं, प्रतिष्ठित हैं। एकमात्र ससार में वही जानने योग्य वस्तु है, अतः तुम सब लोगों का यही एकमात्र परम कर्तव्य है, कि उस जानने योग्य ब्रह्म को जानो, उस परम प्रापणीय पुरुष को प्राप्त करो। वे ही सत् हैं, वे ही असत् भी हैं। वे ही कार्य भी हैं और कारण भी वे ही हैं। ये ही प्रकट रूप में जगत् हैं। और अप्रकट रूप में आत्मा भी हैं। वे ही एकमात्र वरण करने योग्य वरेण्य हैं। वे ही श्रेष्ठों से भी परमश्रेष्ठ वरिष्ठ-तम हैं। और समस्त प्राणियों की बुद्धि से परे हैं। जहाँ आकर

मन वाणी तथा बुद्धि लौट आती है, वे बुद्धि द्वारा जाने नहीं जा सकते।"

वे अंधकारमय नहीं अर्चिमान् हैं, दीप्तिमान् हैं, वे परमप्रकाश स्वरूप परम तेजस्वी हैं। सबसे सूक्ष्म अणु होता है। किन्तु वे अणु से भी अणु हैं, परम सूक्ष्मतम हैं। विश्व ब्रह्माण्डों मे जितने लोक हैं, तथा उन लोकों में रहने वाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब के सब इन्हीं के आश्रित हैं। वे सभी इन्हीं के अन्तर्गत अवस्थित हैं। बृहद् होने से यह ब्रह्म कहकर पुकारा जाता है। कभी नाश न होने से इसे अविनाशी अक्षर भी कहते हैं। वही प्रीणन करने वाला प्राण है, वही बोलने वाली वाणी है, वही मनन करने वाला मन है, वही सदा एक रस रहने वाला सनातन सत्य है। यही कभी भी न मरने वाला अमृत है। हे सौम्य ! प्रियतम वत्स ! उसे ही लक्ष्य बनाकर बींधना चाहिये। तुम उसी को वेधो।

सूतजी ने कहा—"लक्ष्य को वेधने के लिये तो धनुष बाण तथा अभ्यास एकाग्रता की आवश्यकता है।"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, गुरुदेव ने इसका भी एक रूपक बताया है, उसे भी सुनो। यह रूपक औपनिषद् है, अर्थात् उपनिषदों में इस रूपक का वर्णन किया गया है।"

सूतजी ने कहा—"हाँ, भगवन् ! उस औपनिषद् रूपक को हमें भी सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"पहिले महास्त्र-बड़े भारी धनुष को लेना चाहिये। फिर उस पर चढ़ाने के लिये बाण लेना चाहिये। साधारण मोथरे भोतरे बिना धारयुक्त-बाण से लक्ष्य नहीं बेधा जा सकता। अत. उपासना रूपी पाषाण पर उस बाण को भली भाँति तीखा-चोखा कर लेना चाहिये। फिर बाण को धनुष पर

चढाने का निरन्तर, दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। फिर भावपूर्ण चित्त से उस अत्यन्त तीक्ष्ण वाण को खींचकर, हे वत्स! हे सौम्य! उस अपने महान् लक्ष्य अक्षर-ब्रह्म का वेधना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन! यह तो आपने गोल माल-सी बात कह दी। वह महास्त्र धनुष क्या है, वे तीखे किये हुए वाण कौन-से हे। इनको स्पष्ट बताइये।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"मेरे गुरु ने प्रणव-ओंकार-को ही महास्त्र धनुष कहा है। आत्मा को ही वाण की उपमा दी है और जिसे वेधा जाता है उस लक्ष्य को ब्रह्म स्थानीय बताया है। किन्तु यह लक्ष्य वेध प्रमाद से, आलस्य से, मोह से नहीं वेधा जा सकता। अतः प्रमाद रहित साधक द्वारा ही यह वेधा जा सकता है। कब वेधा जा सकता है, जब वाण की ही भाँति अपने लक्ष्य मे तन्मय हो जाय, तदाकार बन जाय।"

सूतजी ने पूछा—"इस महान लक्ष्य को वेधने के लिये साधक मे कैसी योग्यता होनी चाहिये, उसे किन किन बातों का परित्याग कर देना चाहिये?"

शौनकजी ने कहा—"भगवान् अङ्गिरा मुनि ने इस विषय को बताते हुए मुझे स्पष्ट रूप से यह आदेश दिया था—वत्स! जिस ब्रह्म में स्वर्ग, पृथ्वी, अन्तरिक्ष समस्त प्राणों के सहित मन ओत-प्रोत हैं। चारों ओर से गुँथा हुआ है। उसे एक जानने योग्य परम आत्मा को तुम लोग जानो। उसी के सम्बन्ध की वार्ते करो। इसके अतिरिक्त दूसरी इधर-उधर की सांसारिक बातों को—विषय सम्बन्धी चर्चाओं को—सर्वथा छोड दो। उनका भली-भाति परित्याग कर दो। क्योंकि संसारी विषय सम्बन्धी कथायें तो विष के सदृश हैं। यह परमार्थ चर्चा तो परब्रह्म परमात्मा रूप

अमृत सागर का सेतु है, इसी सेतु द्वारा आप लोग संसार सागर के उस पार अमृतार्णव में प्राप्त हो सकोगे।"

सूतजी ने पूछा—"ध्यान किसका करे ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, शरीर क्या है, यह एक संसार चक्र का पहिया है। यह घूमता रहता है। जैसे रथ की नाभि में चारों ओर से ऐड़ी टेढ़ी लकड़िया (अरा) लगी रहती हैं उसी प्रकार इस शरीर में करोड़ों नाड़ियाँ हैं। ये सबकी सब हृदय प्रदेश से जुड़ी हैं। समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान-केन्द्र स्थान-हृदय है। उस हृदय में परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामी रूप से निवास करता है, शरीर के मध्य में विचरता रहता है, प्रकट होता है। उस परब्रह्म परमात्मा का वाचक प्रणव है, ओंकार है। अतः ॐ इस नाम के ही द्वारा उस परमात्मा का ध्यान करो। उस ध्यान से ही तुम असार संसार रूप समुद्र को पार कर जाओगे। मैं तुम्हारी शुभ कामना करता हूँ, मंगल कामना करता हूँ। तुम्हारे लिये मंगलाशासन करता हूँ। तम से परे-अज्ञानमय अंधकार से अतीत-संसार सागर के उस पार पहुँचने के लिये तुम लोगों का कल्याण हो ऐसी मेरी आप सब लोगों के लिये मनोकामना है।"

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! तथा अन्याय महर्षिगण ! इसके अनन्तर महामुनि अङ्गिरा ने जैसे पुनः परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का तथा उनके ज्ञान के फल का वर्णन किया, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय—*स्वरग, भूमि, आकाश, प्रान सह मन जिनि माहीं।*
ओत-प्रोत है रह्यो ताहि जानो, पर नाहीं॥
छोड़ों जगकी बात अमृत सेतुहिँ अपनाओ।
चक्र माहिँ ज्यों अरा जाल नाड़ी हिय छायो॥
रहाई हिय की गुफा में, अन्तरयामी बसहि नित।
प्रणवहिँ जपि तम पार हो, नित ताही में देउ चित॥

यह विश्व वरिष्ठ ब्रह्म ही है

[४८]

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥*

(मु० उ० २ ख० २ मु० ११ म)

छप्पय

यही ब्रह्म सर्वज्ञ जगत महिमा सु सर्व वित।
आत्मा दिव्य प्रकाश व्योमवत ब्रह्म पुरस्थित॥
नेता प्रान शरीर मनोमय हिये कमल थित।
अन्न प्रतिष्ठित रूप अमृत आनन्द प्रकाशित॥
धीर लखें विज्ञान तैं, देखत हिय ग्रन्थी खुलत।
संशय सब कटि जात हैं, कर्म शुभाशुभ सब नसत॥

परिचय दो प्रकार से दिया जाता है, एक अन्वय से दूसरा व्यतिरेक से। अन्वय का अर्थ है उसी में समन्वित कर लेना–जैसे सभी ब्रह्म ही ब्रह्म है। व्यतिरेक–यह भी ब्रह्म नहीं है, यह भी ब्रह्म नहीं है। चाहे अन्वय से परिचय दो या व्यतिरेक से

---

*ब्रह्म ही यह अमृत है। ब्रह्म ही सम्मुख है, ब्रह्म ही पीछे है। ब्रह्म ही दक्षिण ओर है, ब्रह्म ही उत्तर ओर है। ब्रह्म ही नीचे की ओर तथा ब्रह्म ही ऊपर की भी ओर फैला हुआ है। यह जो सम्पूर्ण विश्व है यह भी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।

ज्ञेना मे ही उस ब्रह्म तत्त्व का इस प्राकृत पदार्थों से बाध हो जाता है। एक हा ब्रह्म नाना रूपा म दीख रहा है। अथवा जो भी कुछ दिखायी दे रहा है, ब्रह्म उसम पर ह। जेम किसी की कमर में म्यान म रखी तलवार लटक रही हो तो लोग यही कहते, तलवार बाँध हुए है। वास्तव में उन्हें तलवार दीखती नहीं, वह म्यान म छिपा ह, किन्तु म्यान स तलवार का अनुमान लगाया जाता है। बिना तलवार के कोई म्यान क्यों लटकावेगा। आधार म्यान ह, आधेय तलवार है। इसी प्रकार जगत् का आधार ब्रह्म है इसलिये यह कहना भी सत्य है, कि जो दीखता है वह ब्रह्म नहीं ह और यह कहना भा सत्य है कि जो भी कुछ दिखायी दे रहा है वह ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भा नहा है। जगत् बिना ब्रह्म के निराधार रह नहीं सकता। प्रभु भगवान् योगमाया का आश्रय लेकर सबके सम्मुख प्रकाशित भी नहीं होते। वे गुहा म छिपकर बैठे रहते हैं। दोनों प्रकार से उनकी सिद्धि करनी चाहिये।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी ! महर्षि अङ्गिरा ने कहा—वह परब्रह्म परमात्मा सर्वज्ञ है, कोई ऐसी वस्तु नहा जो उनसे छिपा हो, वे भूत, भविष्य तथा वर्तमान का सभी बातों का, सभा वस्तुओं का जानते हैं। उन्हें जो जान लेता है वह सभा को जान लेता है। सबको जानता ह और सब ओर से सबको जानता है, उसी ब्रह्म की यह दृश्य जगत् महिमा है। वही आत्म स्वरूप है वह दिव्य आकाश स्वरूप है, ब्रह्मलोक मे अर्थात् अपने लोक म—स्वस्वरूप म—वह सदासर्वदा स्थित रहता है। वह मन म व्याप्त ह, मन जिसके बिना मनन करने म सर्वथा समर्थ नहीं, अत उसे मनोमय भा कहते हैं। शरीर जिस की सत्ता के बिना हिल डुल नहीं सकता, प्राण जिसके बिना जीवन धारण नहीं कर सकते। वही

शरीरों का तथा प्राणों का नियमन करता है, अतः नेता कहलाता है। इसीलिये विद्वान् लोग उसे प्राण शरीर नेता कहते हैं। यह ब्रह्म ही प्राणियों के हृदयकमल का आश्रय लेकर अन्न में प्रतिष्ठित है। अर्थात् स्थूल शरीर की हृदय गुफा में छिपा रहता है। वैसे वह इन चमचक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता। किन्तु जो धीर, गम्भीर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि वाले पुरुष हैं, वे विज्ञान के द्वारा-विशेष ज्ञान से-उसे भली-भाँति देख लेते हैं, उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। वैसे सत्ता रूप से, चेतन्य रूप से, अमृत रूप से, आनन्द रूप से, अविनाशी रूप से वह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है।"

सूतजी ने पूछा—"इस धीर पुरुष ने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है ? इसने विज्ञान के द्वारा उस परमात्मा को प्रत्यक्ष कर लिया है, इसका लक्षण क्या है ? ब्रह्म साक्षात् करने वाले में अन्य लोगों से कौन-सी बात विलक्षण होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने मुझे बताया था—जड़ और चैतन्य की हृदय में एक गाँठ पड़ गयी है। वह ग्रन्थि मल की-अज्ञान की-अंधकार की है। तभी तो नित्य शुद्ध चैतन्य जीव इस अनित्य, क्षणभंगुर, जड़ शरीर में अहंता तथा सम्बन्धी नाशवान पदार्थों में ममता करने लगता है। यह जड़ चैतन्य की मलमय गाँठ खुल जाय, तो जीव को अपने स्वरूप का बोध हो जाय। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर-उस परावर प्रभु को तत्त्व से जान लेने पर-इसके हृदय की यह ग्रन्थि खुल जाती है।"

अज्ञान के कारण इस जीव को सदा सर्वदा संशय बना रहता है। माया मोहित जीव का स्वरूप ही संशयालु होना, बात-बात में पग-पग पर इसको संशय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु

ब्रह्म का साक्षात् हो जाने पर विज्ञान द्वारा ब्रह्म को भली-भाँति प्रत्यक्ष कर लेने पर हृदय में एक भी संशय शेष नहीं रह जाता। सम्पूर्ण संशय छिन्न भिन्न हो जाते है, जड मूल से कट जाते हैं।

माया मोहित जीव कर्मों के अधीन होकर ही वार-वार जन्मता मरता रहता है। कर्मों की शृङ्खला ऐसी सुदृढ़ हैं, कि वह टूटती ही नहीं। ज्यो-ज्यो प्राणी कर्मो को करता है, त्यों-त्यो यह शृङ्खला और भी कठोर होती जाती है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर जीव के समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते है। वह पुण्य पाप से परे होकर समस्त वन्धनों से निर्मुक्त हो जाता है। अर्थात निर्ग्रन्थ, संशय रहित और कर्म बन्धनों से विमुक्त हो जाना यही ब्रह्म साक्षात् करने वाले धीर पुरुष के लक्षण हैं।

सूतजी ने पूछा—"उस ब्रह्म का स्वरूप और स्थान के सबन्ध में हमारी पुनः श्रवण करने की इच्छा है।"

शौनकजी ने कहा—"महर्षि अंगिरा ने हमारे प्रति उसका वार-वार उपदेश किया है। उन्होंने बताया—वे परम प्रकाशमय अपने वैकुण्ठ धाम मे निराजमान रहते हैं। वे सभी प्रकार के मल तथा विकारों से रहित है। जिनमे सत्त्व, रज, तम ये तीनो गुण नहीं हैं, अर्थात् जो गुणातीत हैं। संसार में १. प्राण, २. श्रद्धा, ३. आकाश, ४. वायु, ५. अग्नि, ६. जल, ७. पृथ्वी, ८. इन्द्रिय समूह ९. अंतःकरण, १०. अन्न, ११. वीर्य, १२. तप, १३. मन्त्र, १४. कर्म, १५. लोक और १६. लोकादिकों नाम ये १६ कलायें हैं। इन्हीं के द्वारा जगत की उत्पत्ति हुई है। भगवान् इन सोलहों कलाओं से रहित हैं अतः वे निष्कल कहलाते हैं। वे सर्वथा शुभ्र अनवद्य-विशुद्ध-है। ये प्रकाशयुक्त पदार्थ जो अग्नि, सूर्य, चन्द्रमादि हैं उनके भी प्रकाशक हैं। उनको सब कोई नहीं जान सकते।

तो तत्त्वदर्शी आत्मज्ञानी महापुरुष ही जानने में समर्थ हो सकते हैं। उन्हें सर्वसाधारण संसारी मनुष्य जान नहीं सकते।"

वे परब्रह्म परमात्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, उन्हें प्रकाशित करने के लिये अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं। इन प्रकाशों की उन तक पहुँच ही नहीं है। वहाँ सूर्य प्रकाश फैला ही नहीं सकता। वहाँ न चन्द्रमा तथा तारागण का ही प्रकाश है। बिजुली भी वहाँ अपनी चमक दमक नहीं दिखा सकती। जब सूर्य, चन्द्र, तारा तथा बिजुली तक की वहाँ पहुँच नहीं, तो फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या? वह तो स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है, उसी के प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड के एकमात्र आधार तो वे ही हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के तेज से तेजस्वी बने हुए हैं।

वह ब्रह्म किसी एक स्थान में आबद्ध नहीं है वह यत्र-तत्र-सर्वत्र रहता है। वह अमृत स्वरूप है। साक्षात् अमृत ही है। वह सबके आगे आगे रहता है और पीछे की ओर भी विद्यमान् है। वह दायें ओर भी है और बायें ओर भी है। वह ऊपर की ओर भी है और नीचे भी वही विद्यमान है। वह सर्वत्र विस्तृत है। फैला हुआ है। ये जो दृश्यमान जगत् है, यह भी उन्हीं का स्वरूप है। वह सबसे श्रेष्ठ है। उससे ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ, त्यागी, तपस्वी, यती सब कुछ वही है। यह समस्त विश्व ब्रह्ममय ही है।

शौनकजी कह रहे हैं—'सूतजी! इस प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में बताकर अब जैसे जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में अंगिरा मुनि ने कहा था, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

निरमल निष्कल ब्रह्म हिरन्मय कोश परे नित।
शुभ्र ज्योति की ज्योति आत्मवित् हा जिनि जानत॥
रवि, शशि, तारा बिजुरि, न पहुँचत अगिनि पहुँच कहँ
जाको पाइ प्रकाश प्रकाशित सबरो जग जहँ॥
अमृत रूप परब्रह्म यह, सम्मुख पीछे अरु बगल।
ऊपर नीचे व्याप्त है, विश्व ब्रह्म ही सर्व थल॥

इति द्वितीय खण्ड समाप्त

द्वितीय मुण्डक समाप्त

तृतीय मुण्डक

(प्रथम खण्ड)

जीव परमात्मा की महिमा का अनुभव करके सुखी होता है

[४६]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥*

(मु० उ० ३ मु० १ ख० १ मं०)

छप्पय

जीव ईश तनु तरुहिँ सखा सम सग सँग निबसत ।
एक खाइ सुस्वादु करम-फल अपर न खावत ॥
ममतरु जीव निमग्न दीन बनि मोहत सोचत ।
अन्य जु सेवित ईश जानि महिमा नहिँ दुःखित ॥
जीव ईश अज लखहि जब, महा-जनक पर पुरुष कूँ ।
पुन्य पाप मल रहित तब, पावै प्रभु के साम्य कूँ ॥

---

* दो सुन्दर पंख वाले पक्षी समान रूप से सखा भाव से एक ही साथ वृक्ष पर रहते हैं । उन दोनों में से एक तो उस पीपल के पेड़ के फलों को स्वाद लेकर खाता है, दूसरा बिना फल खाये केवल साक्षी रूप से देखता रहता है ।

यह ससार रूप पीपल का वृक्ष है। पीपल का वृक्ष कहने का भाव यह है, कि जैसे पीपल की पूजा तो करो किन्तु उसको स्पर्श मत करो। क्योंकि इसमें दरिद्रता देवी रहती है। दरिद्रता कहते हैं अभाव को। ससार को स्पर्श करके ससारी माया में फँसकर आज तक कोई ऐसा नहीं हुआ, जिसे कोई न कोई अभाव न बना रहा हो। ससार म लाभ से लोभ बढा करता है। लोभ इतना शीघ्रगामी है, कि इसको कितना भी आहार दो तुरन्त उसे चट कर जाता है, फिर उससे दूना और माँगता है। इसलिये इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को छूओ नहीं, दूर से ही इसे नमस्कार करो। यदि छूना ही हो, तो जब इसमें परब्रह्म परमात्मा की पत्नी श्रीदेवी आ जायँ तो उस समय शनैः शनैः चलकर शनिश्चर के अवसर पर माँ की गोद में बैठकर इसे स्पर्श करो। उस समय विष्णु का आश्रय लेने वाले तुम वैष्णव श्री सम्पन्न होकर इसे छू सकते हो। श्री बिना इसे स्पर्श मत करो। भूल से स्पर्श कर लोगे तो दरिद्रता देवी–लोभ की जननी तुम्हारे सिर पर चढ बठेगी। तुम श्री हीन हो जाओगे। अतः इस ससार तरु को–पीपल के वृक्ष को–स्पर्श न करो।

दूसरी बात इस पीपर के फल में पिप्पली के भीतर कीडे बहुत रहते हैं, भूल से इसके फल को तुम खाओगे, तो पाप के भागी बन जाओगे अतः पीपल की छाया में बैठो, उसे नमस्कार भी करो, किन्तु इसे स्पर्श न करो इसके फलों को न खाओ। दो बात न करोगे, तो जो इस वृक्ष का ईश है–स्वामी है–जिसने इसे पैदा किया है या जो स्वय ही वृक्ष रूप म बन गया है, वह तुम्हारा सखा सुहृद बन जायगा। फल खाने से जो अशाति हो जाती है, उस अशाति से–पाप से–तुम बचकर परम शाति को प्राप्त कर लोगे। उसके सदृश गुणों वाले ही बन जाओगे। यदि उसकी

सार को न मानकर श्री के बिना इसका स्पर्श कर लोगे, फलों का लाभवश भक्षण कर लोगे, तो तुम श्री हीन, अशान्त तथा शोक मग्न बन जाओगे।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अङ्गिरा ने बताया कि चार का ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त कहीं दूर नहीं जाना पड़ता। परब्रह्म परमात्मा तो जीव का सनातन साथी है, सच्चा सुहृद है, साथ ही साथ एक घोंसले में रहने वाले दो पक्षियों के समान है। एक ही घोंसले में–हृदयरूपी गुफा में–ये दोनों धूप और छाया के समान साथ ही साथ रहने वाले हैं। देखो, यह शरीर क्या है, अश्वत्थ का एक वृक्ष है। अश्वत्थ का अर्थ है जो कल भी रहे या न रहे, जिसका अगले क्षण भी रहने का विश्वास न हो उसी को अश्वत्थ कहते हैं।" (श्वोऽपि स्थस्यति इति विश्वास अनर्हत्वात् च=अश्वत्थ–मायामयः संसार वृक्षः। अथवा अश्वत्थवत् काम कर्म वातेरित नित्यप्रचलित स्वभावात्)

यह शरीर भी क्षणभंगुर है। अतः इस शरीर को अश्वत्थ की उपमा दी। उस वृक्ष का कोटर में दो पक्षी रहते हैं। वे दोनों पक्षी ऐसे नहीं हैं, कि उनके पंख कटे हुए हों जो वृक्ष टूट जाने पर उड़ न सकें। उन दोनों के पंख सुन्दर हैं, शक्तिशाली हैं। उन दोनों में इतना स्नेह है, कि दोनों साथ ही साथ रहते हैं। परस्पर में दोनों में मैत्री है, सौहार्द है, सख्य भाव है। दोनों में कभी लड़ाई नहीं होती। दोनों लड़ झगड़कर पटपटाकर पृथक्-पृथक् वृक्ष पर अपने पृथक्-पृथक् घोंसले बना लें सो भी बात नहीं है। दोनों बड़े प्यार दुलार से एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते हैं। दोनों में बहुत साम्यता है, किन्तु एक ही दोनों में विषमता है। उनमें से एक तो लालचवश उस वृक्ष के सुस्वादु फलों को स्वाद ले लेकर खाता रहता है अर्थात् उस वृक्ष के फलों के

स्वाद में लिप्त हो जाता है। दूसरा उसी वृक्ष पर रहता है, सुन्दर पके फलों को देखता भी है, किन्तु उनका उपभोग नहीं करता, उन्हें खाता नहीं। केवल साक्षी बनकर बिना खाये हुए बैठे-बैठे देखता रहता है। इसमें न लालच करता है न आसक्ति ही करता है।

सूतजी ने पूछा—"फल खाने से उसकी हानि क्या होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, देखिये! यद्यपि दोनों ही एक स्थान पर बैठें हैं, वृक्ष समान ही है, किन्तु वह फल खाने वाला पक्षी–जीवात्मा पुरुष–चिन्ता में निमग्न बना रहता है।"

सूतजी ने पूछा—"चिन्ता किस बात की ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जो खाता नहीं वह तो निश्चिन्त रहता है, किन्तु खाने से अनेकों प्रकार की चिन्तायें आकर घेर लेती हैं। फल मिलेगा या नहीं, कैसे मिलेगा, कहाँ मिलेगा, न मिला तो क्या होगा ? भोक्ता तो भोजन के अधीन हो जाता है, अपने को परवश अनुभव करने लगता है। जो वस्तु प्राप्त करने में अपने को असमर्थ समझता है, वह रोगी की भाँति, अत्यन्त वृद्ध की भाँति अपने को दीन समझने लगता है। मोह में निमग्न होकर सदा सोचता ही रहता है। चारों ओर से शोक मोह उसे घेर लेता है।"

सूतजी ने पूछा—"उसका शोक मोह कभी छूट भी सकता है ?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ छूट क्यों नहीं सकता, जब यह परम पुज्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है तभी यह शोक मोह से छूट सकता है।"

सूतजी ने कहा—"कैसा है वह परब्रह्म ?"

शौनकजी ने कहा—"वह अकर्ता हैं, फिर भी सबका स्वामी है, ईश है, शासनकर्ता हैं। यद्यपि वह कार्य कारण से रहित हैं, फिर भी जगत् की सृष्टि करने वाले लोकपितामह ब्रह्मयोनि हैं ब्रह्मा की उत्पत्ति के वे ही आदि कारण हैं। यद्यपि वे संसार से परे है, फिर भी इस सम्पूर्ण जगत् के एकमात्र कर्ता हैं। यद्यपि वे तम और प्रकाश दोनों से परे हैं, फिर भी दिव्य परमप्रकाश स्वरूप हैं, एस उन परम पुरुष पुरुषोत्तम को जब जीवात्मा प्रत्यक्ष कर लेता है, तब कर्म बन्धनों से विमुक्त बन जाता है, फिर वह न पुण्य कर्मों में बँधता है और न पाप कर्मों में लिप्त ही होता है। पुण्य तथा पाप दोनों से ही निर्मुक्त होकर अञ्जन से रहित, मल से मुक्त बनकर निर्मल होकर सर्वोत्तम सत्ता को प्राप्त कर लेता है, फिर वह अज्ञानी बद्ध जीव न होकर विद्वान ज्ञानी महात्मा निर्द्वन्द्व बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"जिसने परम पुरुष परमात्मा के दर्शन कर लिये हैं, जिसे परमात्म साक्षात्कार हो चुका है, उसके लक्षण क्या हैं?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, यह जो प्राणियों में–सम्पूर्ण भूतों में–प्राण रूप से प्रकाशित हो रहा है, वह परब्रह्म ही है। अज्ञानी लोग उसे जानते नहीं, पहिचानते नहीं, देखते नहीं। जो ज्ञानी विद्वान पुरुष–इस परब्रह्म के यथार्थ रहस्य को जान लेता है, उसे एक तो अभिमान नहीं होता। प्राणी जो अभिमानपूर्वक बहुत बढ़कर बक-बक करता है, यह मैंने किया, मैं ऐसा कर डालूँगा, वह मेरी उन्नति में कंटक था, उसे तो मैंने घाट उतार दिया–मार दिया–अब जो और मेरे कार्यों में विघ्न करने वाले हैं, उनका भी मैं अन्त कर दूँगा। इस प्रकार की बकवाद अज्ञान मूलक है। अज्ञानी पुरुष ही ऐसी बढ़-बढ़कर बातें किया करते हैं। जिन्हें

ज्ञान हो गया है, जिन्होंने ब्रह्म साक्षात्कार कर लिया है, वे अतिवाद-बकवाद- से सदा दूर रहते हैं कभी बढ़-बढ़कर व्यर्थ की बातें नहीं करते।"

वह क्रियावान होता है-यज्ञ, दान, तपस्यादि क्रियाओं में निष्काम भाव से लगा रहता है। उसे क्रीडा करने के लिये बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी आत्मा के ही साथ अपने इष्टदेव परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उस रति के निमित्त-रमण करने के लिये-बाह्य रमणी की आवश्यकता नहीं होती, वह अन्तरात्मा परमात्मा के ही साथ सदा सर्वदा क्रीडा करता रहता है। उसी की रति मे निरत रहता है। ऐसा परम पुरुष को देखने वाला-आत्म साक्षात्कार प्राप्त भगवत् भक्त ब्रह्मवेत्ताओं में भी वरिष्ठ-श्रेष्ठ-विशिष्ट होता है। अतः उस ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त विद्वान के प्रधानतया चार लक्षण हैं। १. एक तो वह बढ़ बढ़कर बड़ी बड़ी बातें नहीं बघारता २. दूसरे वह बाग बगीचों में क्रीडा न करके आत्मा में ही क्रीडा करता है। ३. तीसरे उसे रति के लिये माला, चन्दन, वनितादि की अपेक्षा नहीं रहती, अपनी आत्मा मे ही रति करके सन्तुष्ट रहता है। ४. चौथे वह क्रियावान् होता है। अपनी शक्ति के अनुसार पितृ यज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, और नृयज्ञादि यज्ञ कर्मों को, अन्न दानादि दानों को, एकादशी आदि व्रत रूप तपों को करता रहता है।

सूतजी ने पूछा—"वह परब्रह्म किन साधनों से प्राप्त होता है?"

शौनकजी ने कहा—"अंगिरा मुनि ने मुझे बताया भगवान तो कृपा साध्य हैं, वे अपनी अहेतुकी कृपा द्वारा ही जीवों को प्राप्त होते हैं। फिर उनकी कृपा की परीक्षा करते हुए सदा-सर्वदा

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई–सर्वसाधारण जन–उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा—"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय-प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से निमुक्त होने के निमित्त–परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त–होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्बल=नाश–अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशित सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करै न बढ़ि बढ़ि बात करम प्रभु प्रीति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखें दोष-क्षय यति प्रवर॥

सत्य का ही आचरण करते रहना चाहिये। सदा तपस्या में ही संलग्न रहना चाहिये। दृढ़ता से नियमपूर्वक नित्य ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते रहना चाहिये। जो इन शुभ कर्मों को करते हुए केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है वह सम्यक् ज्ञान से सदा प्राप्त होने वाले उन परम पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है। सब कोई–सर्वसाधारण जन–उसे प्राप्त नहीं कर सकते।"

सूतजी ने पूछा—"सब प्राप्त नहीं कर सकते, तो कौन लोग प्राप्त कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"मुझे अंगिरा मुनि ने बताया कि इस शरीर के ही भीतर अन्तर्यामी रूप से रहने वाले ज्योतिर्मय–प्रकाश स्वरूप परम विशुद्ध परमात्मा को यति लोग ही प्राप्त कर सकते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"यति किसे कहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"जो सदा सर्वदा-भोगों के लिये नहीं-केवल मोक्ष के लिये ही प्रयत्नशील बने रहते हैं। जिसके समस्त कार्य संसार से विमुक्त होने के निमित्त–परमात्मा के साक्षात्कार के ही निमित्त–होते हों उसे यति कहते हैं (यतते-चेष्टते मोक्षार्थं इति=यतिः)। उसे साधु, सन्यासी, त्यागी, विरागी कुछ भी कह लो। ऐसे जो क्षीण दोष यति हैं, जिनके समस्त दोष निर्वल-नाश–अथवा क्षीण हो गये हैं ऐसे निरन्तर यत्न करने वाले लोग ही यति नाम से पुकारे जाते हैं, वे ही परब्रह्म को देख सकते हैं।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म प्राप्ति का एक सर्वोत्कृष्ट साधन बता दीजिये जिससे सरलतापूर्वक ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मेरे गुरुदेव भगवान् अंगिरा

मुनि ने सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ सुलभ साधन बताया है। जिसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्राण रूप परमात्म प्रकाशित सब भूतनि तैं।
जो जन जानत जाइ दूर रह अभिमाननि तैं॥
करैं न बदि बदि बात करम प्रभु प्रीति करत नित।
ब्रह्म विदनिमहँ श्रेष्ठ आत्मक्रीडा सु आत्मरत॥
अन्त देह में बसत नित, शुभ्र ज्योतिमय पुरुष-पर।
ब्रह्मचर्य सत ज्ञान तैं, लखें दोष-क्षय यति प्रवर॥

ब्रह्म ही सर्वत्र परिपूर्ण है

[५०]

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपम्,
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥*
(प्र० उ० ३ मु० १ ख० ७ म०)

छप्पय

होइ सत्य की विजय झूठ की कबहुँ विजय नहिं ।
देवयान पथ पूर्ण सत्यतें जाईं ऋषिहु तिहिं ॥
वही सत्य परधाम ब्रह्म वह दिव्य बृहत अति ।
और सूक्ष्म तैं सूक्ष्म प्रकाशित सबकी नहिं गति ॥
अति समीप अति दूर है, देखत साधक कृपा प्रभु ।
दरसक के भीतर रहत, बसत गुफा हिय सतत विभु ॥

एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह जो दृश्यमान् जगत है वह मिथ्या है, असत् है, नाशवान् है। यदि तुम जगत् का आश्रय

---

* वह परब्रह्म बृहत है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर में प्रकाशित होता है। वह दूर से भी अत्यन्त दूर रहकर भी समीप से भी समीप है। इस जगत् में देखने वालों के अन्दर हृदय की गुफा में सन्निहित है।

लोगे, तो तुम्हारी पराजय हो जायगी। अर्थात् तुम सदा जन्म-मरण के चक्कर में फँसे रहकर इस संसार में ही बँधे रहोगे। दूसरों के अधीन होकर रहना यही पराजय है। किसी के अधीन न होकर सर्व स्वतन्त्र होकर रहना यही विजय है। जीव जब तक इन्द्रियों के, अन्तःकरण के, विषय वासनाओं के अधीन है तब तक उसकी जय कहाँ? उसे तो सब समय संशय में ही बिताना पड़ता है। जब जीव विषयों से इन्द्रियों से, अन्तःकरण से प्रकृति की परिधि से बाहर हो जाता है इनके अधीन नहीं रहता, तभी समझो उसने विजय प्राप्त कर ली, वह सभी प्रकार के बन्धनों से विमुक्त हो गया। इसलिये संसारी प्रलोभनों को त्यागकर सतत ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त प्रयत्नशील बने रहना चाहिये। यही विजय कारक निष्कंटक सुपथ है। इसके अतिरिक्त विजय प्राप्त करने का दूसरा मार्ग नहीं है।

शौनकजी कह रहे हैं—"सूतजी! महर्षि अंगिरा ने मुझे बताया—विजय सत्य की ही होती है, अनृत की—असत्य की—विजय कदापि नहीं होती। संसार में दो ही मार्ग हैं, एक देवयान मार्ग, एक पितृयान मार्ग, उन्हें ही शुक्ल मार्ग, कृष्ण मार्ग, धूम मार्ग, दीप्ति मार्ग भी कहते हैं। जो सत्य मार्ग के उपासक हैं, आप्त काम-पूर्ण काम ऋषि महर्षि हैं वे देवयान मार्ग द्वारा जाते हैं, उस मार्ग से जाकर वे उस स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट दिव्य धाम है। उस सत्य मार्ग से, जाने वाला साधक लौटकर इस मर्त्यलोक में नहीं आता। किन्तु जब पितृयान मार्ग से जाते हैं उनका अनृत से—जगत् से—कुछ सम्बन्ध बना रहता है, अतः वे पुण्य लोकों में पुण्यों का उपभोग करके पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः इसी लोक में आ जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"देवयान और पितृयान का मार्ग कैसा है ? इसका कुछ वर्णन हमें सुनाइये।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! इन दोनों का वर्णन भिन्न-भिन्न पुराणों में, महाभारत में, उपनिषदों में गीतादि शास्त्रों में भिन्न-भिन्न नाम से किया गया है। गीताजी में इसे शुक्ल मार्ग और कृष्ण मार्ग कहा है, कहीं धूम मार्ग और दीप्ति मार्ग कहा है। छांदोग्यउपनिषद् में देवयान मार्ग से जाने वाले साधक के सम्बन्ध में कहा गया है-जो भगवद् उपासक हैं, मरने पर उनके मृतक शरीर का कोई अन्त्येष्टि क्रिया करे या न करे वह देवयान मार्ग से अर्चि को प्राप्त होता है। दीप्ति कहो,अग्नि कहो,अर्चि कहो, प्रकाश कहो सब एक ही बात है। अर्थात् पहिले उसे अग्नि के अभिमानी देवता अग्निलोक में पहुँचाते हैं,फिर दिन के अभिमानी देवता उसे ले जाते हैं, फिर क्रम से शुक्लपक्ष के देवता, उत्तरायण के ६ मासों के देवता, फिर सम्वत्सराभिमानी देव, आदित्यलोक के अभिमानी देव, चन्द्रलोक के अभिमानी देव, फिर विद्युत लोक में उसे ले जाते हैं, वहाँ से वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, फिर लौटकर नहीं आता। इस मार्ग को अपुनरावृत्ति मार्ग कहते हैं।"

इसके विपरीत जो पितृयान मार्ग है, जिसे कृष्ण मार्ग, धूम्र मार्ग आदि भी कहते हैं। उसे पहिले धूमाभिमानी देवता ले जाते हैं, फिर क्रम से रात्रि-अभिमानी देव, कृष्ण पक्षाभिमानी देव, दक्षिणायन के-अभिमानी देव, फिर क्रम से चन्द्रमा की ज्योति को प्राप्त होकर अपने पुण्य कर्मों के अनुसार स्वर्गादि पुण्य लोकों में जाकर दिव्य सुखों का उपभोग करता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः इसी असत् लोक में जन्म लेकर कर्मानुसार नाना योनियों में जन्म लेता है। अतः सत्य का ही अनुसरण करना

चाहिये। जिससे देवयान मार्ग द्वारा जाकर पुन इस असत् संसार में न लोटना पड़े। ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाय। उस ब्रह्म के सम्बन्ध में भगवान् अंगिरा महर्षि ने मुझे बारम्बार बताया। उन्होंने कहा—"वह पराब्रह्म परमात्मा बृहद् है, महान् से महान् है, दिव्यातिदिव्य है। उसको मन के द्वारा चिन्तना नहीं की जा सकता, अत उसे अचिन्त्य रूप कहा गया है। संसार में जितनी भी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तुये हैं, उन सबसे भी वह अत्यन्त सूक्ष्म-सूक्ष्मतर है। वह अन्धकारमय हो सो भी बात नहीं। इतना सूक्ष्मतर होने पर भी वह प्रकाशित हो रहा है। वह जितनी भी दूरी की कल्पना की जा सकती है, उस कल्पनातीत दूरी से भी दूर है। फिर भी इसी शरीर में रहकर अत्यन्त समीप भी है। जो साधक उसे देखना चाहते हैं, उसका साक्षात्कार करना चाहते हैं, उन्हें उसे खोजने के निमित्त दूर नहीं जाना पडेगा, उन्हे अपने ही शरीर की हृदय रूपी गुफा में स्थित वह मिल जायगा।"

सूतजी ने पूछा—"कैसे मिल जायगा? दीखने लगेगा?"

शोनकजी ने कहा—"दीखने तो लगेगा, किन्तु इन चर्म चक्षुओं से दिखायी न देगा। वाणी यदि उसका निर्वचन करना चाहे तो निर्वचन नहीं कर सकती। वाणी ही क्या कोई भी इन्द्रिय चाहे वह कर्म इन्द्रिय हो या ज्ञान इन्द्रिय। वाह्य इन्द्रिय हो या अन्त. इन्द्रिय। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियों द्वारा गम्य नहीं। तुम चाहो, कि केवल तपस्या द्वारा ही उसे प्राप्त कर लें, तो यह असम्भव है। अथवा तुम चाहो कि केवल यज्ञ दानादि शुभ कर्मों के ही द्वारा उसे प्राप्त कर लें तो भी असम्भव है। उस निर्मल निष्कल-अवयव रहित-परब्रह्म परमात्मा को तो ज्ञान प्रसाद से-ज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के प्रसाद से-उनकी प्रसन्नता से

कृपा से–उसे वही साधक प्राप्त कर सकता है–देख सकता है–जो विशुद्ध सत्त्व वाला हो–जिसका अन्तःकरण निरन्तर की उपासना से विशुद्ध बन गया हो। जो निरन्तर उन्हीं का ध्यान करता रहता हो।"

सूतजी ने पूछा—"वह परब्रह्म प्राणिमात्र की हृदय गुफा में रहता है या केवल उसका भजन करने वाले जो साधक हैं उन्हीं के हृदय मे वास करता है ?"

शौनकजी ने कहा—"वह परब्रह्म परमात्मा तो सबके हृदय में–प्राणी मात्र के हृदय मे–रहता है। वह तो अन्तर्यामी सर्व व्यापक है।"

सूतजी ने पूछा—"यदि वह सर्वव्यापक है तो विशुद्ध अन्तःकरण वाले साधको को ही क्यों दिखायी देता है। सभी को उसका साक्षात्कार होना चाहिये ?"

शौनकजी ने कहा—"देखिये, जिस व्यक्ति ने कंठ पर्यन्त गंदा जल पी लिया है, वह सम्मुख रखे हुए गगाजल की इच्छा नहीं करता। जिसने आवश्यकता से अधिक कोदों आदि अन्न को ठूँस-ठूँसकर पेट में भर लिया है, जिसे खट्टी-खट्टी डकारें आ रही हैं। उसके सम्मुख भगवान् का प्रसादी मोहन भोग ही रखा हो, तो वह उसकी इच्छा न करेगा। गंगाजल की इच्छा तो वही करेगा जो प्यासा हो, जिसे खाने की इच्छा हो, जिसे भूख लगी हो, वही प्रेमपूर्वक भगवत् प्रसाद पावेगा।"

इस शरीर मे प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान इन पाँच भेदों मे प्राण प्रविष्ट होकर जीवन संचार कर रहा है। उसी शरीर में वह अणु रूप में, अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे जीवात्मा भी निवास करता है। वह देखा नहीं जा सकता। केवल मन के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है–जाना जा सकता है–वह

जीवात्मा समस्त प्राणियों के सबके चित्त तथा प्राणों में श्रोत प्रोत है। इन प्राणों में तथा इन्द्रियों तथा अन्तःकरणों मे नाना वासनायें भरी हुई हैं। जीव तो उन वासनाओं की पूर्ति के लिये ही अहर्निश प्रयत्नशील है। जिस अन्तःकरण मे विषय वासना भरी हुई है उसमें भगवान् को देखने का—परमात्मा के साक्षात्कार का—स्थान ही कहाँ है। जब अन्तःकरण का कचरा दूर हो। मन निर्मल हो। हृदय की गुफा वासनाओं से खाली हो तभी तो उसमें ब्रह्म का प्रकाश होगा। अतः जिन महात्माओं का अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, उसी मे परमात्मा का प्रकाश होता है। अतः ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष ही धन्य हैं।

सूतजी ने पूछा—"ऐसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले महात्मा किन लोकों मे जाते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! अगिरा मुनि ने बताया था, कि जिनका अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है, ऐसे विशुद्ध सत्त्व भगवत्भक्त ज्ञानी पुरुषों का कोई लोक निश्चित नहीं। वे मन से जिस-जिस लोक की इच्छा करते हैं। जिस लोक मे जाने का संकल्प उनके मन में उठता है, चिन्तन करते ही उन्हें उस लोक की प्राप्ति हो जाती है। वे जिस-जिस भोग की दिव्य-अदिव्य जैसी वस्तु की अभिलाषा करते हैं, उन-उन वस्तुओं को तुरन्त प्राप्त कर लेते हैं, जिस लोक में जाना चाहें उस लोक को उसी क्षण विजय कर लेते हैं। वह अपने ही लिये नहीं जिसको चाहे उसे भोग ऐश्वर्य दिला सकते हैं। अतः जो अपना ऐश्वर्य चाहता हो, कल्याण चाहता हो उसे विशुद्ध अन्तःकरण वाले आत्मज्ञानी महात्मा का अर्चन करना चाहिये, स्वागत सत्कार करना चाहिये। उनके चरणों में साष्टाङ्ग प्रणामादि करके प्रणिपात करना चाहिये। उनकी पूजा से परमात्मा प्रसन्न होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"क्या विशुद्ध अन्तःकरण वाले ज्ञानी पुरुष माला, चन्दन, स्त्री आदि सांसारिक भोगों को भी दे सकते हैं। वे स्वयं भी उनका उपभोग कर सकते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"यदि उनकी कोई कामना शेष है, तो वे इन भोगों को भी भोग सकते हैं, दूसरों को भी दे सकते हैं। किन्तु इन भोगों के प्रति अपने लिये या दूसरों के लिये आदर देना उचित नहीं। भोगों की इच्छा तो बन्धन का कारण है। इस विषय में मुझे जो भगवान् अंगिरा मुनि ने उपदेश दिया है, उस सकाम और निष्काम भाव वाले वृत्त को मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस अन्तिम पावन प्रसंग को श्रद्धा भक्ति और एकाग्रता के साथ सुनेंगे, क्योंकि इस उपनिषद् का सार सिद्धान्त इसी द्वितीय खण्ड के तृतीय मुण्डक में निहित है।"

छप्पय

वाक, चक्षु अरु अपर करन नहिँ ग्रहन करहिँ जिनि।
मिलें न तप शुभ करम, ज्ञान परसाद लखें तिनि॥
पंच प्रान तन रहत सूक्ष्म आतमा लखि शुध चित।
ओत प्रोत तन प्रान शुद्ध हियमहँ प्रभु निभरत॥
वे विशुद्ध मन जिनि चहैं, उन उन लोकनि जाइँगे।
श्री कामी आतमज्ञ की, पूजा करि सुख पाइँगे॥

—◎—

परमात्मा कृपासाध्य हैं, साधनसाध्य नहीं

[५१]

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो-
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ❀
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ३ म०)

छप्पय

विश्व निहित जिहि परम शुभ्र वह परमधाम वर ।
जो अकाम करि ध्यान धीर जग लाँघि जाइँ नर ॥
भोग कामना करें भोगथल पुनि पुनि जनमत ।
जो होवें निष्काम कामना तजि नहिं लौटत ॥
धी, श्रुत, प्रवचनतें कबहुँ, ब्रह्म प्राप्त होवै नहीं ।
स्वीकारैं जाकूँ सदय, प्रकट होइ तातें तहीं ॥

भगवान् साधनसाध्य नहीं, वे कृपासाध्य हैं, किस जीव पर वे कब कृपा कर देते हैं, इसका कोई नियम नहीं । कृपा करने

❀ यह आत्मा प्रवचनों द्वारा प्राप्य नहीं है और न बुद्धि से, न बहुत श्रवण करने से ही लभ्य है । यह परब्रह्म परमात्मा जिसे अपना कहकर वरण कर लेता है—जिसे कृपा करके स्वीकार कर लेता है—उसी के द्वारा प्राप्त होता है, फिर उसी के सम्मुख अपने तनु को प्रकट कर देता है ।

किसी पर जाते हे, रास्ते म अनायास दूसरों को कृतार्थ कर देते है। भगवान् महाभारत के पश्चात् द्वारकापुरी जा रहे थे, बीच में उतङ्कमुनि का आश्रम मिला, भगवान् उन्हे कृतार्थ करने उनके आश्रम पर पहुँच गये। मुनि न पूछा—"वासुदेव ! आप कौरव पाडवा में सन्धि कराने दूत बनकर गय थे उन दोनों म सन्धि हो गयी क्या ?"

मुनि का प्रश्न सुनकर भगवान् हँस और बोले—"भगवन् ! उन लोगा ने मेरा बात मानी ही नहीं। इसलिये महाभारत युद्ध हुआ। धृतराष्ट्र के सौऊ पुत्र मारे गये, उनका समस्त सेना युद्ध मे मर गया। सेना का विनाश तो पाडवो का भी हुआ, किन्तु वे विजयी हुए। धर्मराज का राज्यसिंहासन पर अभिषेक कराकर अब मैं द्वारका जा रहा हूँ। मार्ग म आपका आश्रम दिखायी दिया, अत आपके दर्शनों के लिये चला आया।"

प्रतीत होता है मुनि दुर्योधन के पक्षपाती रहे होंगे। कौरवों के वश नाश से उन्हें बडा दुःख हुआ। वे बोल—"वासुदेव ! आप सर्वसमर्थ हें आप चाहते तो सन्धि अवश्य हो जाती, किन्तु सामर्थ्यवान होन पर भी आपने कौरवा के कुल का नाश करा दिया अत में आपको शाप देता हूँ, आपके भी कुल का इसी प्रकार परस्पर म लडकर विनाश हो जाय।"

भगवान न कृपा प्रदर्शित करते हुए कहा—"मुनिवर ! आपको अपनी तपस्या का बडा अभिमान है, मुझ निरपराधी को आपने इतना भारी दारुण शाप दे दिया, मैं चाहूँ तो बदले मे आपको भी शाप दे सकता हूँ, किन्तु मैं शाप न देकर वर दूंगा, आप कोई वर मुझसे माँग लें।"

मुनि न कहा—"इधर जल का अत्यन्त अभाव है, आप ऐसी कृपा करें, कि यहाँ जल का अभाव न रहे।" भगवान् ने

तुरन्त मेघों को आज्ञा दी, वर्षा हो गयी और बोले—"आज से ये मेघ आपके ही नाम से प्रसिद्ध होंगे। आप जहाँ चाहेंगे, वहीं तुरन्त वर्षा हो जाया करेगी। आपको अब से जल का अभाव न रहेगा।" तभी से उन मेघों का नाम उतङ्क मेघ पड़ गया जो मारवाड़ में अब भी वर्षा करते हैं। भगवान जा तो रहे थे द्वारकावासियों पर कृपा करने, बीच में अनायास मुनि पर कृपा कर दी।

मिथिला, जानकीजी पर कृपा करने उसे अपनाने को जा रहे थे, बीच में सब प्रकार से असमर्थ केवल कृपा की ही प्रतीक्षा करती हुई–पाषाण बनी–अहिल्या पर भगवान ने कृपा कर दी। उसका उद्धार कर दिया।

जा रहे थे जानकीजी को दर्शन देने। बीच में सब साधनों से हीन, हीन जाति शबरी जो नित्य प्रति प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा में ही बैठी थी, जानकीजी से पूर्व उसे ही अपने दर्शन दिये, उसी पर अहैतुकी कृपा की।

भगवान कब किस पर कृपा करते हैं, कब किसे अपना कहकर वरण करते हैं, इसका कोई नियम नहीं। अतः यथाशक्ति साधन करते रहो, किन्तु अपने साधनों पर अभिमान मत करो। भगवान की कृपा पर विश्वास रखो। दण्डकारण्य के ऋषिगण अपने साधनों का ही अभिमान किये बैठे थे। हम सबसे बड़े तपस्वी हैं, राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे भारी विद्वान् हैं, हमारी विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर राम सबसे पहिले हमारे यहाँ आवेंगे। हम सबसे अधिक कर्मिष्ठ सदाचारी हैं, यज्ञकर्ता हैं, राम हमारे यहाँ अवश्य आवेंगे। किन्तु राम इनमें से किसी के यहाँ नहीं गये। गये सबसे पहिले शबरी की कुटी पर। इसी से सिद्ध होता है, राम साधनसाध्य

नहीं कृपासाध्य हैं, अहर्निशि उनकी कृपा की ही–अनुकम्पा ही की–सुसमीक्षा करते रहो–तन्मय होकर उसी की प्रतीक्षा करते रहो।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ऐश्वर्य की कामना वालों को विशुद्ध सत्त्व महापुरुषों की पूजा तो करनी चाहिये, किन्तु सकाम भाव से–हमारी भोगों की कामना से–उनकी पूजा करना उचित नहीं। क्योंकि इस संसार में है क्या ? रज और वीर्य का सम्मिश्रण है। यह जगत् रज वीर्य के सम्मिश्रण से बना है, यदि तुम उन्हीं रज वीर्य सम्बन्धी सुखों के लिये समुत्सुक हो, तो तुम्हें वे सुख भी मिल जायँगे, किन्तु इस संसार सागर का अतिक्रमण नहीं कर सकोगे। इसी में डूबते उछलते रहोगे। जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसकर बार-बार मरते और उत्पन्न होते रहोगे। यदि तुम संसारी कामनाओं का परित्याग करके निष्कामभाव से इस शुभ्र सत्त्व सम्पन्न, प्रकाशमान परब्रह्म के ब्रह्मधाम को जान लोगे, जिस धाम में यह सम्पूर्ण विश्व निहित है, उसी में स्थित होकर प्रतीत होता है तब तुम जन्म मरण के चक्कर से सदा के लिये छूट जाओगे। यदि तुम अकाम होकर–निष्कामभाव से उसकी उपासना करोगे तो तुम धीर-वीर पुरुष कहलाओगे और इस संसार रूप सागर का अतिक्रमण कर जाओगे। संसार के उस पार परमधाम, ब्रह्मधाम में प्राप्त हो जाओगे।"

सूतजी ने पूछा—"निष्काम भाव वालों की गति तो आपने बता दी, किन्तु जो सकाम भाव से परब्रह्म की उपसना करते हैं, उनकी क्या गति होगी ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आप ही सोचिये चक्रवर्ती राजा की उपासना करके उससे धान की भूसी की याचना करना क्या उचित है ? परमात्मा तो भोग मोक्ष दोनों ही देने में समर्थ हैं। जो सकामी पुरुष संसारी विषय भोगों को ही श्रेष्ठ मानते हैं,

उन्हीं की कामना के निमित्त उपासना करते हैं, तो वे जो-जो कामनायें करते हैं, उन्हें वे-वे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं उनका जन्म उनकी भावना के अनुसार वसे-वसे स्थानों में ही होता है, जहाँ उनकी कामना की वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें। वे भोग चाहे लौकिक हों। या स्वर्गादि लोकों के दिव्य विषय सुख हों। वे कामनाओं में वँधे होने के कारण वार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते रहते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"जिनकी संसार की कामनायें पूर्ण हो चुकी हैं, उनकी क्या गति होगी?"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो कामनायें ही हैं। यद्यपि बिना कामना के शरीर प्राप्त नहीं होता। किन्तु जिनका अन्तःकरण विशुद्ध हो चुका है ऐसे कृतात्मा पुरुष की सम्पूर्ण कामनायें यहीं-इसी जन्म में-विलीन हो जाती हैं। वे कामना हीन बन जाते हैं, वे पूर्ण काम पर्याप्त काम हो जाते हैं। ऐसे निष्कामी साधक का पुनर्जन्म नहीं होता। वह जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"तो भगवन्! बताइये, किस साधन से निष्काम भाव होकर ब्रह्मसाक्षात्कार हो। कैसे भगवान् के दर्शन हों?"

शौनकजी कहते हैं—"देखो, सूतजी! महर्षि अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया, कि भगवान् साधनसाध्य नहीं, कृपासाध्य हैं, प्रीति साध्य हैं, भक्तिसाध्य हैं। शास्त्रों का प्रवचन करना सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु आप चाहो कि केवल प्रवचन करके ही हम प्रभु की प्राप्ति कर लें, तो यह असभव है, बुद्धि को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाना शास्त्रीय तर्कों से मेधा को तीक्ष्ण करना सुन्दर साधन है, किन्तु आप चाहें कि हम बुद्धि वैचित्र्य से ही ब्रह्म साक्षात् कर लें, तो उपयुक्त नहीं क्योंकि ब्रह्म तो बुद्धि से भी परे है।"

शास्त्रों का सतत-श्रवण करना सुन्दर साधन है, इससे परमार्थ पथ परिष्कृत होता है, किन्तु आप केवल शास्त्र श्रवण करके ही प्रभु को पा सकें यह कठिन है। उन्हें प्राप्त करने के लिये तो प्रभु प्रेम की आवश्यकता है। जो प्रभु का सर्वोत्म भाव से प्यार करता हो और प्रभु भी जिससे प्रेम करते हों ऐसे ज्ञानी पुरुष ही-शुद्ध अन्तःकरण वाले साधक ही-उन्हें प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि ज्ञानी को भगवान् अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि वह प्रीतिपूर्वक उनका भजन करता है, अतः परमात्मा भी उन्हें बुद्धियोग-अपने समीप आने का उपाय-बता देते है। जिससे वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। साराश यही हुआ कि साधनों के ही बल भरोसे वे प्राप्त नहीं हो सकते। जिनको वे वरण कर लेते हैं-स्वीकार कर लेते हैं-उन्हीं को वे प्राप्त हो जाते हैं, फिर उनके सम्मुख वे अदृश्य नहीं बने रहते। उसके सम्मुख वे अपने यथार्थ रूप से प्रकट होकर-भक्त की भावनानुसार उसे दर्शन देते हैं। उसे अपने ब्रह्म-धाम में प्रविष्ट कर लेते हैं। उसे अपना सदीय बना लेते हैं।

सूतजी ने पूछा--"कैसे साधक को वे प्राप्त होते हैं? अपने धाम में वे कैसे साधक को प्रविष्ट करते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"यह परमात्मा बलहीन को प्राप्त नहीं होता। मल को प्राप्त हो जाता हो सो भी बात नहीं। जिसमें निष्काम भाव वाली उपासना का बल नहीं है वही निर्बल है, उस उपासना हीन को ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती। प्रमादपूर्वक तपस्या करने से भी वे नहीं मिल सकते। सब कुछ छोड छाड़कर अलिङ्गी बन जाने से-वर्णाश्रम धर्म के चिन्हों के परित्याग करने से भी वे प्राप्त नहीं हो सकते। जो विद्वान इन उपायों द्वारा प्रयत्न तो करता रहता है-किन्तु भगवत् स्वीकृति के लिये-उनकी कृपा की प्रतीक्षा करता है उसी का जीवात्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है। अर्थात्

शास्त्रीय साधन करते हुए भी जिसे साधनों का अभिमान नहीं होता, भगवत कृपा पर ही विश्वास रखता है ऐसे प्रीतिपूर्वक भजन करने वाले ही भगवद धाम के अधिकारी होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"उन प्रेमपूर्वक भजन करने वालों की कैसी स्थिति हो जाती है ?"

शौनकजी ने कहा—"जो निष्काम भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त करके ज्ञान से तृप्त हो जाते हैं, वे अशांत नहीं होते परमशांत हो जाते हैं, वे राग द्वेष से रहित होकर वीतरागी बन जाते हैं, वे कृतात्मा-विशुद्ध अन्त करण वाले-हो जाते हैं। ऋषि रूप हो जाते हैं, वे युक्तात्मा बन जाते हैं। वे धीर पुरुष उस सर्वव्यापी परमात्मा को सब ओर से प्राप्त करके उन्हीं सर्व रूप सर्वेश्वर में प्रविष्ट हो जाते हैं। अर्थात् तद्रूप तन्मय हो जाते हैं। वे ब्रह्म लोक को प्राप्त होते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म लोक में जाने वाले महापुरुषों की कैसी स्थिति होती है। इसका पुन वर्णन करें।"

शौनकजी ने कहा—"बन्धन का कारण तो यह देह ही है। देह की आसक्ति से विमुक्त हुए महापुरुषों की स्थिति का वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

प्रवचन, श्रुत, धी प्राप्त न होवै आत्मा भाई।
जिहि स्वीकारे तासु प्रकट सम्मुख है जाई॥
पावें नहिं बलहीन, प्रमादी-तपसी, त्यागी।
करि उपाय जो विज्ञ धाम हरि जाइँ विरागी॥
बीतराग ऋषि कृतात्मा, ज्ञान तृप्त अति शांतचित।
युक्तात्मा ज्ञानी पुरुष, प्रविसे सर्वत सर्वगत॥

—०—

वेदान्त की अन्तिम स्थिति

[५२]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
अस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः-
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥*
(मु० उ० ३ मु० २ ख० ८ मं०)

छप्पय

जिनिने पढि वेदान्त जानि निश्चित परमात्मा।
करथो शुद्ध जिनि चित्त योग सन्यास हुतात्मा॥
ते यात तनु तजि ब्रह्मलोक अमृत ह्वै जावें।
कला, प्रतिष्ठा, देव, कर्म सब ब्रह्म समावें॥
सरिता सागरमहँ मिले, नाम रूप तजि देइ सब।
नाम रूप त्यों तजहिं बुध, ब्रह्म उदधि मिलि जाइ जब॥

जब तक जीव को पूर्ण ज्ञान नहीं होता, तभी तक उसे इस लोक के तथा परलोक के कर्मों की चिन्ता रहती है। तभी तक उसे संयोग में सुख और वियोग में दुःख का अनुभव होता है।

---

* जिस प्रकार बहती हुई सरितायें अपने नामरूप का परित्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान् नाम रूप से विमुक्त होकर परात्पर दिव्यपुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

जब उसे भली-भाँति ज्ञात हो जाता है, अनुभव होने लगता है, कि मैं पृथ्वी नहीं, जल नहीं, तेज नही, आकाश नहीं, तन्मात्रा नहीं, इन्द्रिय समूह नहीं, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहङ्कार नही मैं इनसे विलक्षण हूँ, तब उसे शरीर के रहने से हर्ष नहीं, शरीर के न रहने से विषाद नहीं। जब उसे अनुभव होने लगता है कि ये सगे सम्बन्धी सब गन्धर्व नगर के समान है, स्वप्न मे देखे पदार्थों के सदृश हैं, इनसे मेरा वास्तविक सम्बन्ध कुछ नहीं है तो वह न सयोग में सुखी होगा न वियोग में दुखी होगा।

एक साधारण श्रेणी का मनुष्य था। उसके पास थोडा सा धन था, छोटा सा परिवार था। एक स्त्री, एक पुत्र, एक स्वय, बस इतना ही उसका परिवार था। काम चलाऊ थोडा सा द्रव्य था। एक दिन उसने स्वप्न देखा, स्वप्न मे वह बहुत बडा राजा बन गया है, बहुत सा धन है, अपार वैभव है, बहुत-सी रानियाँ हैं, १० पुत्र हैं, वह सब पर शासन कर रहा है, सब लोग उसकी आज्ञा का पालन कर रहे हैं। निद्रा खुली तो न राज्य है, न धन वैभव है, न पुत्र तथा पत्नियाँ ही हैं। उसी टूटी खाट पर पडा है। दूसरे दिन कुछ डाकू आये उसका सब धन छीन ले गये पुत्र को मार गये। उनकी स्त्री ने रोते-रोते घर भर दिया। सम्पूर्ण गाँव के लोग सहानुभूति प्रकट करने आये, किन्तु वह मनुष्य न रोया, न उसने किसी प्रकार का दुःख ही प्रकट किया। वैसा ही निर्विकार, निर्लेप बना रहा।

इस पर उसकी स्त्री ने कहा—"तुम्हारा हृदय पत्थर का बना है, क्या? घर का सब धन लुट गया, एकमात्र पुत्र था वह भी मर गया, तुम्हारी फूटी आँखो से एक बूँद पानी भी नहीं निकला। मानों तुम्हें इसका तनिक भी शोक ही नहीं। बडे निर्मोह, निष्ठुर, वज्रहृदय वाले हो?"

उस पुरुष ने कहा—"शोक किस-किस के लिये करें। एक के लिये या अनेकों के लिये ?"

स्त्री ने कहा—"शोक अपनों के लिये किया जाता है, वैसे तो संसार में नित्य ही बहुत-से आदमी मरते रहते हैं, सबके लिये कोई थोड़े ही रोता है। तुम्हारे तो एक पुत्र था, तुम्हें पुत्र के वियोग का दुःख नहीं होना चाहिये ?"

उस मनुष्य ने कहा—"तुम एक की कहती हो, कल स्वप्न मे मैं १० पुत्रों का पिता था, अपार धन का, अनन्त वैभव का स्वामी था, आज देखता हूँ, मेरे वे सब पुत्र, समस्त धन, वैभव नष्ट हो गया। जब उनके लिये मैंने शोक नहीं किया, तो उस एक पुत्र के लिये, तनिक-से धन के लिये दुःख शोक क्यों करूँ ?"

स्त्री ने कहा—"वे तो स्वप्न के धन, वैभव तथा पुत्र थे, यह तो आपका यथार्थ पुत्र था, सच्चा धन वैभव था।"

पुरुष ने कहा—"यथार्थ कुछ नहीं है, यह भी एक दीर्घ कालीन स्वप्न ही है। अपना एक तो परमात्मा है। उसका इन बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सब पदार्थ तो नाशवान् हैं ही।"

वास्तविक बात यही है। ये देह ये प्राकृतिक पदार्थ तो अन्तवन्त हैं, क्षणभंगुर हैं, विनाशशील हैं। जो शरीरी है, आत्मा है, वही नित्य है, अविनाशी है, कभी नष्ट होने वाला नहीं है। उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो ज्ञान तृप्त महात्मा हैं वे इन संसारी पदार्थों के संयोग वियोग से दुखी सुखी नहीं होते। वे एकमात्र परमात्मा को ही सत्य मानकर मग्न एकरस बने रहते हैं।

शौनकजी कहने लगे—"सूतजी ! जो ब्रह्मज्ञानी महात्मा हैं, जिन्होंने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, वे वीतराग विशुद्ध अन्तः-

करण वाले कृतात्मा ऋषिगण इस परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर ज्ञान तृप्त प्रशान्तात्मा हो जाते हैं। उनकी किसी वस्तु में आसक्ति नहीं रहती। अहंता अर्थात् देह मे अहंभाव और देह सम्बन्धी गेह, धन, पुत्र पौत्रादि मे ममता नहीं करते। उन्हे किसी प्रकार के अभाव का बोध नहीं होता। वे युक्तात्मा, धीर पुरुष सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मा को पूर्णरीत्या प्राप्त करके उस परमात्मा मे ही प्रविष्ट हो जाते हैं। उनमे और परमात्मा में केवल नाम मात्र का ही भेद रह जाता है, वे उन्हीं में तल्लीन, तन्मय तथा तदाकार हो जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्म प्राप्त महापुरुषों का इस भौतिक शरीर से कुछ सम्बन्ध रहता है क्या? वे ब्रह्मलोक में कैसे जाते हैं, संसार से विमुक्त होने पर उनकी स्थिति कैसी होती है?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्मज्ञानी का देह से सम्बन्ध तभी तक है, जब तक देह सम्बन्धी प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म क्षय हो जाने पर वे इस शरीर को त्यागकर ब्रह्म के लोक में–परब्रह्म के सनातन धाम में–चले जाते हैं। क्योंकि उन्होने वेदान्त शास्त्र के विज्ञान द्वारा जो यथार्थ तत्त्व है उसका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। संन्यास योग द्वारा–कर्मों के फल और आसक्ति के त्याग रूप योग से उनका अन्तःकरण मल, विक्षेप और आवरण से रहित होकर विशुद्ध बन गया है। ऐसे समस्त साधना मे प्रयत्नशील साधक अन्तकाल में जब प्रारब्ध कर्मों की समाप्ति के समय शरीर का परित्याग करते हैं, तो उन्हें पुनः संसार मे जन्म मरण नहीं करना पडता। वे ब्रह्मलोक में निवास करते हैं, वहाँ से उन्हें इस संसार में पुनः आना नहीं पडता। वे संसार के समस्त बन्धनों से सदा-सदा के लिये परिमुक्त हो जाते हैं। वे ससार के आवागमन से सर्वदा के लिये छूट जाते हैं।"

सूतजी ने पूछा—"बहुत से ऐसे महात्मागण हैं,कि इस शरीर के रहते हुए ही वे परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे जीवन्मुक्त कहलाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुष जब इस शरीर का परित्याग करते हैं,तो अन्तकाल में उनकी स्थिति कैसी होती है ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, सूतजी ! भगवान् अङ्गिरा मुनि ने मुझे बताया कि जो समष्टि में है वही व्यष्टि में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में भी है। यह लोक पन्द्रह कलाओं से निर्मित है। ये श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रियगण, मन (अन्तःकरण) अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, लोक और नाम जो पन्द्रह कलायें हैं, सब इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता हैं, ये सबके मन अपने अपने अधिष्ठातृ देवताओं में जाकर मिल जाते हैं। जैसे व्यष्टि पचभूत समष्टि पंचभूतों में मिलकर एक हो जाते हैं। शरीर का पृथ्वी तत्त्व पृथ्वी में, जल तत्त्व जल में, तेज तत्त्व तेज में, वायु तत्त्व समष्टि वायु में और देहाकाश महाकाश में जाकर मिल जाता है। वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में और श्रोत दिशाओं में मिल जाते हैं। जैसे हाथों के अधिष्ठातृदेव इन्द्र हैं तो ज्ञानी के शरीर के अन्त होने पर वह इन्द्र में जाकर मिल जायगा। इसी प्रकार सभी शरीर के पदार्थ अपने अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं।"

इनके अतिरिक्त एक कर्म और जीवात्मा दो शेष रह जाते हैं। ज्ञानी के कर्म अदत्त फल वाले होते हैं। जैसे अज्ञानी तो शुभ अशुभ कर्मों के फल रूप ही नाना योनियों में जाते हैं। उनके कर्म दत्त फल कहलाते हैं। ज्ञानी तो शुभ अशुभ, धर्म अधर्म सबसे परे हो जाता है, इसलिये उसके कर्म भी अदत्त फल वाले हो जाते हैं। अतः अदत्त फल कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब अव्यय ब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाते हैं। एकीभूत हो जाते हैं।

सूतजी ने पूछा—"ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त का जीवात्मा परमात्मा मे किस मार्ग से, किन किन लोकों से, कैसे जाकर उनमे लीन होता है ?"

शौनकजी ने कहा—"देखो, जैसे अपने उद्गम स्थान से निकलकर बहती हुई गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियाँ जब आकर समुद्र मे मिलती हैं, तब अपने-अपने नामों का और रूपों का परित्याग करके उसी मे विलीन हो जाती हैं, एकाकार बन जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान जीवन्मुक्त ज्ञानी महात्मा नाम रूप से विमुक्त बनकर परात्पर दिव्य पुरुप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाते हैं। उन्हीं के समान हो जाते है। उनका फिर कभी जन्म नहीं होता, वे आवागमन से सर्वथा के लिये रहित हो जाते हैं। वे जन्म-मरण विहीन पुनरावृत्ति रहित हो जाते हैं। वे किस पथ से कैसे जाते हैं, इसका भी कोई चिन्ह अवशेष नहीं रहता। जैसे कछुए,मछली आदि जलचर जीव जिधर से चाहे निकल जायँ, आकाश में उडने वाले पक्षी जिधर से चाहें उड जायँ, उनके पद चिह्न अवशिष्ट नहीं रहते। इसी प्रकार ज्ञानियों के गमन की गति दृष्टिगोचर नहीं होती। वे तो जैसे नदियाँ समुद्र मे विलीन हो जाती हैं, जलचर जीव जल मे विलीन हो जाते है, आकाशचारी जीव आकाश मे ही विलीन हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्मज्ञानी अज्ञात मार्ग से जाकर ब्रह्म मे विलीन हो जाता है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपने महर्षि अङ्गिरा द्वारा कही हुई यह उपनिषद् तो बहुत ही दिव्य सुनायी इसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक जान लेने पर तो साधक परब्रह्म का विज्ञाता बन जाता होगा ?"

शौनकजी ने कहा—"निश्चयपूर्वक जो भी साधक इस उपनिषद् के द्वारा परब्रह्म को जान लेता है, वह परब्रह्म ही हो जाता

है। ब्रह्म के समान ही हो जाता है। यही बात नहीं कि वह अकेला ही कृतार्थ होता हो, उसके कुल में भी ब्रह्मवेत्ता ही उत्पन्न होते हैं, उसके कुल में कोई भी अब्रह्मवेत्ता नहीं होता। जो ब्रह्म को जान लेता है, वह शोक सागर को तर कर शोक के पार पहुँच जाता है, अर्थात् शोकरहित बन जाता है। वह पाप पक से भी तर जाता है अर्थात् निष्पाप, निर्मल बन जाता है। उसके हृदय की ग्रन्थियाँ सर्वथा खुल जाती हैं, ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर वह अमृतत्त्व को प्राप्त होता है, अमर बन जाता है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या के अधिकारी के क्या लक्षण हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"इसका वर्णन इस ऋचा में किया गया है। वेद की ऋचा बताती है—जो क्रियावान् पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्म-निष्ठ हैं, अर्थात जो श्रुति के अर्थों के ज्ञाता तथा ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले उसकी उपासना करने वाले हैं, जो श्रद्धापूर्वक एकर्षि नाम वाली अग्नि में नियमित, निष्काम भाव से हवन करने वाले हैं और जिन्होंने विधिवत् शिरोव्रत-ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है, उन्हीं श्रद्धालु, निष्काम कर्मयोगी, नियम व्रत परायण साधकों को इस ब्रह्म विद्या का उपदेश देना चाहिये। वे ही संयमी साधक इसके अधिकारी हैं उन्हीं के लिये यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये। यह परम्परागत विद्या है।"

सूतजी ने पूछा—"इस ब्रह्मविद्या की परंपरा क्या है ? सबसे पहिले इस विद्या को किसने किसको बताया और परम्परया यह आप तक कैसे पहुँची ?"

शौनकजी ने कहा—"इस परम सत्य को प्रकाशित करने वाली ब्रह्मविद्या का सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने अथर्वा मुनि को उपदेश दिया। अथर्वा मुनि ने अङ्गी ऋषि को उपदेश दिया। अङ्गी ऋषि

ने भरद्वाज गोत्रीय सत्यवाह मुनि से कहा। सत्यवाह मुनि ने इसे अङ्गिरा ऋषि से कहा। उन महाभाग अङ्गिरा महर्षि से मैंने इस ब्रह्मविद्या को उपलब्ध किया।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! आपने तो इस परम रहस्यमयी ब्रह्मविद्या को सर्वसाधारण लोगों के लिये सुलभ कर दिया। अब तो इसे जो भी चाहे वही पढ़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता बन सकता है?"

हँसकर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! ऐसी बात नहीं है, सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र मे ही स्थिर रह सकता है। अन्य पात्रों मे वह फटकर विष बन जायगा। सर्वसाधारण लोग इसे भले ही पढ लें, किन्तु वे ब्रह्मवेत्ता नहीं बन सकते। जो अचीर्ण व्रत हैं–जिन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत सावधानी के सहित, तत्परतापूर्वक पालन नहीं किया है, वे अव्रती चीर्णव्रती पुरुष इस ब्रह्मविद्या को नहीं पढ़ सकते। वे इसके कदापि अधिकारी नहीं हो सकते। गूढ अभिप्राय को वे कदापि हृदयङ्गम नहीं कर सकते।"

जिन परम ऋषियों की कृपा से यह ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई है। उन परम ऋषियों को नमस्कार है, उनके पादपद्मों मे पुनः-पुनः प्रणाम करके, उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करके इस परम रहस्यमयी, साक्षात् ब्रह्मज्ञान को कराने वाली, सर्वश्रेष्ठ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् को समाप्त करते हैं। शांति पाठ के अनंतर यह उपनिषद् पूर्ण हुई।

छप्पय

ब्रह्म जानिकें होइ ब्रह्ममय कुल तरि जावै।
शोक पाप नसि जायँ ग्रन्थि हिय की खुलि जावै॥
मुक्त अमर बनि जायँ सबनि विद्या नहिँ आवै।
ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ ब्रह्मचारी इहि पावै॥

दिव्य ब्रह्मविद्या परम, कही अंगिरा हिय धरौ।
परम ऋषिनि वन्दन करौ, तिनि पग में पुनि-पुनि परौ॥

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहें करें मिलि यजन यज्ञ नित।
कानन तें हू सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
आँखिनि तें हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगै ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहै तप में सतत॥
देवराज हे इन्द्र ! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य ! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट ! शक्तिशाली सुनेमि सम।
धन्य वृहस्पतिदेव ! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सब तें ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

॥ श्रीहरिः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्ति पाठ

[५३]

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा-
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥*

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहैं करैं मिलि यजन मखनित ।
काननि तैं हू सुनें बचन शुभ भद्र निरत हित ॥
आँखिनि तैं हू सदा निहारें दृश्य भद्रवर ।
सुदृढ अङ्ग तनु लगै ईश स्तुति में दृढतर ॥
शेष आयु हमरी सकल, रहै देवहित में निरत ।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहै तप में सतत ॥

---

* हे देवगण ! हम अपने कानो से भद्र वचन ही सुनें अभद्र नहीं । नेत्रो से कल्याणकारी–भद्र–दृश्य ही देखें । हम सब यजन करने वाले हों, स्थिर अङ्गो तथा सुदृढ शरीर से भगवत् स्तुति करते हुए शेष आयु को देवहित में ही उपभोग करें ।

छठी उपनिषद् माण्डूक्य उपनिषद् है। वास्तव में सर्वाङ्गीण विशुद्ध उपनिषद् तो यही है। अन्य उपनिषदों में कहीं प्राणोपासना है, किसी में कर्मकाण्ड का भी समावेश है, कहीं अग्नि आदि की उपासना के प्रकरण आये हैं, किन्तु इसमें तो परम विशुद्ध तत्त्व केवल प्रणव का ही विवेचन है। किस प्रकार इसमें प्रणव के तीन पादों का इस सगुण साकार जगत् रूप ब्रह्म के साथ साम्य दर्शाकर अन्त में चतुर्थपाद में त्रिगुणातीत तत्त्व का विवेचन किया है, वह कहते नहीं बनता।

आकार में यह उपनिषद् बहुत ही छोटी है, इसमें सम्पूर्ण १२ ही मन्त्र हैं, किन्तु इन बारह मन्त्रों में ही वेदान्त का सम्पूर्ण सार भर दिया है। बहुत प्राचीन समय से विद्वानों ने इस अत्यन्त लघु उपनिषद् का महत्त्व स्वीकार किया है। पूज्यपाद भगवान् शंकराचार्यजी के गुरु के भी गुरु परमहंस चूड़ामणि भगवान् शुकदेवजी के शिष्य भगवत् पूज्यपाद गौडपादाचार्य ने इसके मन्त्रों के ऊपर विस्तार के साथ कारिकायें लिखी हैं। उन्होंने इन बारह मन्त्रों को आगम, वैतथ्य, अद्वैत और अलात शान्ति इन चार प्रकरणों में विभक्त किया है। आगम प्रकरण में २९ कारिकायें हैं, वैतथ्य में ३८, अद्वैत में ४८ और अलात शान्ति में १०० इस प्रकार गौडपादाचार्य की सम्पूर्ण कारिकायें २१५ हैं। पहिले प्रकरण में आगम-शास्त्रों-द्वारा पहिले यह बताया है, कि यह जगत् हुआ किसलिये। कोई तो कहते हैं भगवान् इच्छा की और जगत् की उत्पत्ति हो गयी। कोई कहते काल का एक चक्र चलता रहता है। उस चक्र का पहिया कभी ऊपर आ जाता है, कभी नीचे चला जाता है। इसी प्रकार काल क्रम से काल आने पर सृष्टि हो जाती है, सृष्टि का काल समाप्त होने पर प्रलय का काल उपस्थित हो जाने पर प्रलय हो जाती है, फिर प्रलय काल समाप्त

होने पर पुनः सृष्टि का काल आने पर पुनः सृष्टि हो जाती है। जैसे रथ का पहिया घूमता रहता है उसी प्रकार यह कालचक्र घूम-घूमकर सृष्टि प्रलय करता रहता है।

कुछ लोगों का कहना है जीवों के जन्मान्तरीय जो संचित कर्म हैं, उनके भोग के लिये सृष्टि होती है। कोई कहते हैं— भगवान् तो लीला के लिये—क्रीड़ा के लिये—मनोविनोद के लिये— सृष्टि करते हैं। इस प्रकार कोई कुछ मानते हैं कोई कुछ। कारिकाकार ने इन सब मतों का खडन किया है। वे कहते हैं भगवान् तो आप्तकाम हैं, उन्हें किसी वस्तु की लीला, क्रीड़ा, मनोविनोद की स्पृहा ही नहीं, फिर वे सृष्टि के चक्कर में क्यों पड़ने लगे। अतः यह जो कुछ दीख रहा है, वास्तव में कुछ है ही नहीं। यह जगत् न कभी हुआ, न है, न आगे होगा, भ्रमवश दिखायी दे रहा है। इसी को अजातवाद कहते हैं।

दूसरा प्रकरण है वैतथ्य—तथ्य कहते हैं यथार्थ को। वितथ्य कहते हैं जो यथार्थ न हो कल्पित हो अर्थात् इस दृश्य प्रपञ्च में तथ्य कुछ नहीं है, सब गन्धर्व नगर के सदृश कल्पित है। जब कुछ है ही नहीं तो कल्पना करने वाला कौन है? इसका उत्तर वे यही देते हैं, कि आत्मा ही अपने आप अपनी माया द्वारा कल्पना करता है और वही फिर अपने आप प्रतिबुद्ध हो जाता है। भेद अभेद, ज्ञान, अज्ञान ये सब माया के ही द्वारा कल्पित हैं।

तीसरा प्रकरण है अद्वैत। यह जो प्रपञ्च की भ्रांति होती है मायामोहित जीव को होती है। ज्ञानी के लिये जगत कुछ है ही नहीं। वे कहते हैं निरोध, उत्पत्ति, बद्धता, साधक, मुमुक्षु, मुक्त ये भेद कुछ भी नहीं हैं, न कोई उत्पन्न होता है, न किसी का विनाश

होना है। उत्तम सत्य तो यही है, कि कोई कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। केवल एक अद्वय आत्मा का ही पसारा है।

चौथा प्रकरण है अलात शान्ति। वच्चे एक छेद वाले पात्र में मक्का की भुट्टी के छोटे-छोटे कोयले रखकर एक रस्सी में उसे बाँधकर घुमाते हैं जिससे चिनगारियों का एक मिथ्या चक्कर-सा प्रतीत होने लगता है। संस्कृत में उसे अलातचक्र कहते हैं। व्रज-भाषा में उसे कुरकुआ कहते हैं। जब तक उसे घुमाते रहो तब तक वह चक्र दिखायी देगा जब घुमाना बन्द कर दो वह चक्र नहीं दिखायी देगा। वास्तव में वह चक्र न पहिले था, न उसका जन्म हुआ, न नष्ट ही हुआ। घुमाने से उसकी प्रतीति हुई। घुमाना बन्द करने से वह प्रतीति समाप्त हो गयी। इसी प्रकार न स्वतः ही, न दूसरे के ही द्वारा कोई वस्तु होती है सत् असत् अथवा असत्-सत् कुछ भी तो उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्य ने इस माण्डूक्य उपनिषद् के १२ मन्त्रों पर २१५ कारिकायें लिखकर अजातवाद सिद्धान्त को परिपुष्ट किया है। ऐसी महत्त्वपूर्ण है यह माण्डूक्य उपनिषद्।

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है। अथर्ववेद के ब्राह्मण भाग में यह उपनिषद् आयी है। इस उपनिषद् को किस ऋषि ने किससे पूछा और किसने इसका उपदेश दिया। इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ लोगों का कहना है कोई माण्डूक्य नाम के ऋषि थे उन्होंने ही इस उपनिषद् का प्रचार किया। कुछ लोगों का कहना है, कि मंडूक मेढक या भेक का नाम है। जैसे मेढक जब जल से बाहर हो जाता है, तो वह तीन या चार छलांग मारकर पुनः जल में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माया मोहित जीव जब अपने को ब्रह्म से पृथक् मानने लगे, तब ३ या ४ छलांग मारकर

पुनः ब्रह्म में ही विलीन हो जायगा। वे ३-४ छलांग क्या हैं ? इसी पर विचार करना है।

हमारे यहाँ त्रित का महत्त्व है। यह सम्पूर्ण जगत् त्रित पर ही टिका हुआ है। जैसे जगत् में भी, प्रकृति-पुरुष और पुरुषोत्तम, ये तीन ही हैं। काल में-भूत-भविष्य और वर्तमान, देवों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अवस्थाओं में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, गुणों में सत्त्व, रज और तम, दोषों में वात पित्त, कफ, अवस्थाओं के अधिष्ठातृ, विश्व, तैजस्, प्राज्ञ, नदियों में गंगा, यमुना, सरस्वती, शक्तियों में महालक्ष्मी, महाकाली, महासरस्वती, वेदों में ऋक, यजु और साम, शरीर भी तीन हैं, स्थूल, सूक्ष्म और कारण, कहाँ तक गिनावें यह सम्पूर्ण जगत् ही त्रितात्मक है। तीन के बिना कुछ नहीं। इन तीन से जो परे हैं, वही ब्रह्म है। अवस्था तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन ही है, किन्तु तीनों से परे जो तुरीय है वही ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था है। तुरीय कोई अवस्था नहीं, वह तो अवस्था से परे है काल तो भूत, भविष्य और वर्तमान तीन ही हैं, इन तीनों से परे जो कालातीत अवस्था है। जहाँ न भूत है, न भविष्य है, न वर्तमान है, यही भेदातीत काल ब्रह्म है। देव तो ब्रह्मा, विष्णु,महेश तीन हैं। सृष्टि करने को ब्रह्मा, उसकी रक्षा करने को विष्णु। और संहार करने के लिये रुद्र ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो महादेव हैं, महाविष्णु हैं, परमआत्मा है वे ही परब्रह्म हैं। सत्त्व, रज और तम गुण तो ये तीन ही हैं, किन्तु इन तीनों से परे गुणातीत विशुद्ध सत्त्व सम्पन्न ब्रह्म हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये तीन ही तीनों अवस्थाओं के अधिष्ठाता है, किन्तु इन तीनों से परे जो अवस्थातीत का अधिष्ठाता है, वही ब्रह्म है, ऋक्, यजु और साम वेद तो ये तीन हैं, किन्तु इन तीनों से परे जो निस्त्रैगुण्य है, वही ब्रह्म है।

गंगा, यमुना और सरस्वती धारा तो तीन हैं, तीनों मिलकर त्रिवेणी हुई हैं, किन्तु इनसे परे परब्रह्म का धाम है। तीनों से परे उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त भी उन्हीं का रूप है अव्यक्त भी उनका ही रूप है। एक पाद में तो यह सम्पूर्ण व्यक्त विश्व ब्रह्माण्ड है शेष जो त्रिपाद विभूति है वह उनका अव्यक्त रूप है। व्यक्त-अव्यक्त कहो, स्थूल-सूक्ष्म कहो, निराकार-साकार कहो, सगुण-निर्गुण कहो। ये सब एक की ही अभिव्यक्ति हैं। अधिष्ठान एक ही है। अतः परिपूर्ण को जानने के लिये इन सब भेद भावों को सर्वथा भुलाना होगा। यद्यपि ब्रह्म नाम रूप से रहित है, किन्तु यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि वह नाम रूप से रहित ही है, यदि यह कहा जाय कि उसमें नाम रूप हैं ही नहीं, तो फिर दृश्य जगत् में जो केवल नामरूपात्मक ही है, इसमें नाम रूप कहाँ से आ गये? जब ब्रह्म के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं तो न कोई साध्य है, न साधन है और न साधक ही है, फिर तो शास्त्र, ज्ञान, उपदेश, उपदेष्टा सब मिथ्या ही हैं। ऐसी स्थिति में तो कुछ कहने का अवसर ही नहीं। साधना काल में तो हमें नाम रूपों को मानकर ही चलना है। अतः जगत् तो त्रिगुणात्मक है। इसमें नाम रूप भी त्रिगुणात्मक हैं। ब्रह्म का नाम क्या है? और ब्रह्म का रूप क्या है? इसी को लेकर माण्डूक्य उपनिषद् का आरंभ होता है। उस ब्रह्म का नाम है ओम् ब्रह्म का वाचक मुख्य नाम यही है। और ब्रह्म का रूप भी 'ॐ' यही है। यद्यपि यह अमूर्त है फिर भी मंत्र ही, प्रणव ही उसकी मूर्ति है, समस्त संसार की मूर्तियाँ, संसार के समस्त पदार्थ इसी एक ॐ प्रणव से निकले हैं। समस्त नाम, समस्त वेद, समस्त जगत् इसी एक ॐ का पसारा है। इसी बात को बताने के लिये मांडूक्य मुनि ने इस मांडूक्य उपनिषद् का प्रवचन किया है।

यह जो जगत् में नित है वह और कुछ नहीं है। ओंकार के जो अ, ऊ और म् ये तीन पाद हैं ये ही त्रित बन गये हैं, इनसे परे जो चतुर्थपाद है अर्धविन्दु है वही ब्रह्म का, अव्यक्त का प्रतीक है, अतः तीन के द्वारा उस चतुर्थ पद की खोज करनी चाहिये। यह कब होगा, जब सभी देव हमारी सहायता करें, सभी देव हमें आशीर्वाद दें। सभी विशिष्ट व्यक्ति हमारी मंगल कामना करें, अतः हम मंगल के लिये, अभिवृद्धि के निमित्त, कल्याण के लिये, शांति के लिये देवताओं से प्रार्थना करें—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शांतिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

छप्पय

देवराज हे इन्द्र! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट! शक्तिशाली सुनेमि सम।
धन्य बृहस्पति देव! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सबतें ही विनय है, स्वस्ति करें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

सब कुछ ओंकार ही है

[५४]

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्
भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। -
यच्चान्यत् त्रिकालातीत तदप्योङ्कार एव ॥ॐ

(मा० उ० १ म०)

छप्पय

ओंकार ई सकल जगत महिमा वर व्यापक।
है त्रिकाल अरु काल-अतीत हु प्रणव नियामक ॥
सबहि ब्रह्म यह ब्रह्म आतमा चतुष्पाद है।
जाग्रत सम जग थूल ज्ञान जग रह्यो व्याप्त है ॥
सात व्याहृति सात ई, लोक कहे उन्नीस मुख।
वैश्वानर ताको कह्यो, प्रथम पाद जो थूल मुक ॥

ओंकार की महिमा अनन्त है। ओंकार किसी भी भाषा का शब्द नहीं। यह भाषातीत है। पैदा होते ही संसार के बच्चे सर्वप्रथम ओंकार का ही उच्चारण करते हैं। सृष्टि के आदि में एक ही वेद था वह ओंकार ही था। ओंकार से ही चारों वेदों का विस्तार

ॐ ओंकार ही यह अक्षर है। यह सम्पूर्ण उसी का उपव्याख्यान है। जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान है वह भी सब ओंकार ही है। जो त्रिकालातीत है, तथा अन्य भी जो कुछ है वह सब भी ओंकार ही है।

हुआ है, ओंकार से ही सम्पूर्ण जगत् विस्तृत हुआ है। ओंकार से ही अण्डज, पिंडज, स्वेदज और उद्भिज जीवों की उत्पत्ति हुई है। ओंकार से ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय की कल्पना हुई है। ओंकार ही ब्रह्म का वाचक शब्द है, ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ नाम है। ओंकार ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। ओंकार के बिना वेद मन्त्रों में मन्त्रत्व नहीं आता। ओंकार के बिना कोई भी क्रिया सिद्ध नहीं होती। अतः मोक्ष की कामना करने वाले प्राणियों को ओंकार की ही शरण में जाना चाहिये।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! छठीं जो माण्डूक्य उपनिषद् है, उसमें किस विषय का प्रतिपादन किया गया है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! माण्डूक्य मुनि ने इस उपनिषद् में ओंकार की ही महिमा गायी है। उनका कहना है–ॐ यह शब्द अक्षर है।"

शौनकजी ने पूछा—"अक्षर क्या?"

सूतजी ने कहा "जिसका कभी क्षर न हो, नाश न हो, अनादि, अनन्त, अविनाशी। यह ॐ ही सम्पूर्ण जगत् बन गया है। यह दृश्य जगत् ओंकार का ही एक मात्र पसारा है। यह जगत् उत्पन्न हुआ था, मध्य में वर्तमान रहा, फिर जाकर ब्रह्म में ही विलीन हो गया। अब जो है, आगे जो होगा और पीछे जो भी कुछ हो चुका है, यह भूत, भविष्य तथा वर्तमान सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। प्रणव ही प्रणव है। काल के तीन ही भेद मनीषियों ने किये हैं। बीता हुआ काल भूत काल है, जो इस समय वर्त रहा है वह वर्तमान काल है, जो काल आगे आने वाला है वह भविष्य काल है। काल के ये तीन रूप ओंकार ही हैं। और जो इन तीनों कालों से अतीत काल है, जिसे कालातीत कहते हैं, वह भी ओंकार ही है। कहाँ तक बतावें, काल से अति-

रिक्त जो भी कुछ है, सब ओंकार ही है। ओंकार के अतिरिक्त और भी जो कुछ है सो ओंकार ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस जड, चैतन्य, चराचर और इससे भी परे जो कुछ कल्पनातीत है, वह सब ब्रह्म कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्म के अतिरिक्त जब कुछ अन्य है ही नहीं, तो यह दृश्य अदृश्य, स्थूल-सूक्ष्म, जड-चैतन्य, स्थावर जंगम, चर अचर और इन सबसे भी परे जो कुछ है, वह सब ब्रह्म ही ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। यह परमात्मा ही चतुष्पाद है।"

शौनकजी ने कहा—"आप भी बार बार कह आये हैं और सभी श्रुतियाँ कह रही हैं, कि ब्रह्म तो निरवयव है। उसके अवयव नहीं, भाग नहीं, विभाग नहीं। फिर आप उसे चतुष्पाद क्यों कह रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वास्तव में तो भगवान् अवयवों से-भाग विभागों से-सर्वथा रहित हैं, फिर भी यदि उनको विभाग करके न समझाया जाय, तो वे बुद्धि में कैसे बैठ सकते हैं। अतः केवल समझाने के लिये-उनकी भली भाँति अभिव्यक्ति करने के निमित्त भेदों की कल्पना की जाती है, विषय को बोधगम्य बनाने के लिये प्रथम पाद, द्वितीय पाद, तृतीय पाद और तुरीयपाद, चतुर्थ पाद इस प्रकार से उनके भेद बताये गये हैं। जो भेद हैं, वे उससे भिन्न नहीं। एक रुपया है, उसके चार भाग-चार चवन्नी-कर दीं। तो वे चारों मिलकर एक पूर्ण रुपया बन जायगा। एक मन है, उसकी चार धन्नी कर लीं। चार धडी मिलकर एक ही मन हो जायगा। एक सेर है इसके चार चार भाग कर दिये तो चारों पौआ मिलकर एक पूरा सेर बन जायगा। जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये चार अवस्थायें हैं। इनके अभिमानी

विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं। ये चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म संज्ञक हो जायँगे। ईश्वर के विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और साक्षी ये चार अंश हैं, ये चारों मिलकर पूर्ण ब्रह्म हो जायँगे। इस प्रकार ब्रह्म के भी चार पाद हैं। वे चारों मिलकर ही पूर्ण ब्रह्म कहलाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"उस चतुष्पाद् आत्मा के चार पाद कौन-कौन-से हैं? इनमें से प्रथम पाद क्या है?"

सूतजी ने कहा—"जो परब्रह्म परमात्मा सर्वेश्वर हैं, सर्वाधार हैं, सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारण हैं, उनका पहिला पाद है वैश्वानर।"

शौनकजी ने पूछा—"वैश्वानर का क्या अर्थ है? वैश्वानर तो अग्नि को कहते हैं। और जीवात्मा का भी नाम वैश्वानर है। तो क्या जीव या अग्नि ब्रह्म का प्रथम पाद है?"

सूतजी ने कहा—"महाराज, एक शब्द के बहुत अर्थ होते हैं, प्रकरण के अनुसार उनका अर्थ किया जाता है। अग्नि तो जड़ है, जीव भी परिच्छिन्न है। ब्रह्म का जो प्रथम पाद है, प्रथमांस है वह इनसे भिन्न है। जैसे शरीर के स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीन भेद हैं। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाओं में जीवात्मा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद जाग्रत अवस्था के सदृश है, अर्थात् जाग्रत उसका स्थान है। उसे स्थूल शरीर की उपमा दी जा सकती है, यद्यपि ब्रह्म उपमा, उपमेयों से रहित है, फिर भी लौकिक, प्राकृत वस्तुओं से समझने की ही हमारी बुद्धि में शक्ति है; क्योंकि वह स्वयं लौकिक तथा प्राकृत है। इसीलिये जीवात्मा के स्थूल शरीर से और जाग्रत अवस्था से उपमा दी गयी।"

वह प्रथम पाद बहिष्प्रज्ञ है। अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान बाह्य और

अभ्यन्तर दोनों ओर है, तो प्रथम पाद उसका बाहर की ओर है, बाह्य जगत् में वह फैला हुआ है। अर्थात् बाह्य विषयों को प्रकाशित करने वाला है। ब्रह्म का प्रथम पाद सात अङ्गों में विभक्त है और उन्नीस मुखों से भोजन करता है।

शौनकजी ने कहा—"सात अङ्ग कौन-कौन-से हैं और उन्नीस मुख कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"बाह्य जगत् में भू, भुव, स्व, मह, जन, तप और सत्य ये सात लोक हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रथम पाद इन सात लोकों में फैला हुआ है। ये सात लोक ही सात अङ्ग है। जैसे जीवात्मा, पॉच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पॉच प्राण और चतुर्विध अन्तःकरण इन उन्नीस मुखों से ही विषयों का उपभोग करता है। यह स्थूल जगत् का भोक्ता है,अनुभवकर्ता या ज्ञाता है। बात यह है कि यह ब्रह्मांड इसे विराट् कहो,विश्व कहो एक ही बात है। इसे जो जानता है, अनुभव करता है वही विराट् है, उस विराट् को ही ब्रह्म का पहिला पाद कहा है। उसकी परिकल्पना सात अङ्गो मे इस प्रकार भी की गयी है, कि स्वर्गलोक उसका सिर है, प्राण स्वॉस है, सूर्य नेत्र है, आकाश धड़ है, जल. मूत्र स्थानीय है और आहवनीय अग्नि उसका मुख है। इस प्रकार वह विश्वरूप नर वैश्वानर के नाम से प्रसिद्ध है और यही ब्रह्म का प्रथम पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का द्वितीय पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर का स्थान जाग्रत था वैसे ही द्वितीय पाद का नाम तैजस है। इसका स्थान स्वप्नावस्था के सदृश है। प्रथम बहिःप्रज्ञ था यह द्वितीय पाद अन्तःप्रज्ञ है अर्थात इसकी प्रज्ञा अन्तर्मुग्न है। पहिले बताये सात अङ्गो और उन्नीस मुखों वाला यह भी है। बात यह है

समष्टि सूक्ष्म शरीर का अभिमानी हिरण्यगर्भ है और व्यष्टि सूक्ष्म शरीर के अभिमानी तैजस हैं। जैसे स्वप्नावस्था में स्वप्नावस्था के अभिमानी है वसे ही तेजस भी स्वप्नावस्था के अभिमानी हैं। अतः यह ब्रह्म का द्वितीय पाद है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का तीसरा पाद क्या है ?"

सूतजी ने कहा—जाग्रत और स्वप्न को तो प्रथम और द्वितीय पाद का स्थान बताया उसी प्रकार तीसरा प्राज्ञ पाद है। इसका स्थान सुषुप्ति है यह प्राज्ञ भोग रहित है। जैसे जीव जब जागता रहता है, तो नाना भोगों को भोगता है, स्वप्नावस्था में स्वप्नमय पदार्थों का उपभोग करता है। किन्तु सुप्तावस्था में न तो वह जाग्रत की भाँति किन्हीं विषयों का ही उपभोग करता है, और न विषय रूप स्वप्नों में ही लिप्त होता है। गाढ निद्रा में सब इन्द्रियाँ, सब वृत्तियाँ अज्ञान में विलीन हो जाती हैं, जीव आनन्द का अनुभव करता है। उस समय सोया हुआ पुरुष किसी भी भोग की कामना नहीं करता और न किसी प्रकार का स्वप्न ही देखता है। उसी अवस्था का नाम सुषुप्ति है, सुषुप्ति अर्थात् जगत् की प्रलयावस्था जिसका स्थान है और एकीभूत प्रज्ञानघन ही आनन्द स्वरूप हैं। जाग्रत स्वप्न की भाँति उन्नीस मुख न होकर केवल चेतना अर्थात् प्रकाश ही जिसका मुख है। वह आनन्द भुक आनन्द को भोगने वाला प्राज्ञ ब्रह्म का तीसरा पाद है। जैसे जिन पदार्थों को हम जाग्रत में या स्वप्न में देखते हैं, वे सबके सब पदार्थ अविद्या में एकीभूत हो जाते है, उसी प्रकार प्राज्ञ सुषुप्ति में ईश्वर के साथ एकीभूत हो जाता है व्यष्टि कारण शरीर में तो जीव अविद्या अंधकार में निमग्न होता है। किन्तु यह प्राज्ञ का तो प्रकाश ही मुख है अत· यह ईश्वर के साथ एकता को प्राप्त होता है, तो जीव तो सुषुप्ति अवस्था में—अज्ञानावृत आनन्द को भोगता है,

किन्तु यह प्राज्ञ ज्ञानानंद भुक् है, इसलिये यथार्थ आनन्द का उपभोग करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म का प्रथम पाद तो वैश्वानर बताया, दूसरा पाद तैजस बताया और तृतीय पाद प्राज्ञ बताया। इस तृतीय पाद प्राज्ञ की विशेष महिमा क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"यही ब्रह्म का तृतीय पाद प्राज्ञ समस्त संसार भर के ईश्वरों का भी ईश्वर है। इससे संसार की अणु, परमाणु कोई भी वस्तु अविज्ञेय नहीं, यह सर्वज्ञ है। यह सबमें व्याप्त सबके मन की जानने वाला अन्तर्यामी है। यही समस्त जीवों की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। यही सबका एकमात्र स्थान है। यह सर्व कारणों का कारण है।"

शौनकजी ने कहा—"आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब जो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का चौथा पाद है, उसका भी वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"पूर्ण ब्रह्म का चतुर्थ पाद परिपूर्ण ब्रह्म का वर्णन क्या करें, वह तो वर्णनातीत है, फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसा कुछ वर्णन किया है, उसका संक्षिप्त भाव में आपसे आगे कहूँगा। इसी प्रकरण में यह माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हो जायगी। आशा है, आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय–स्वप्न थान सप्ताङ्ग अन्त प्रज्ञहु उन्निस मुख।
तैजस दूसर पाद ब्रह्म को सु प्रविक्ति भुक॥
जो प्रसुप्त नहिं करै कामना स्वपन न देखे।
त्यों प्रसुप्त इस्थान पाद तीसर महँ पेखे॥
एकीभूत प्र-ज्ञान घन, आनँदमय आनन्द भुक।
सर्वेश्वर सरवज्ञ यह, सर्वयोनि परकाश मुख॥

—::—

चतुष्पाद परिपूर्ण ब्रह्म

[५५]

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघन न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षण-मचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥❀

(माण्डू० उ० ७ म०)

छप्पय

प्रज्ञा भीतर नहीं न बाहर उभय न आवै ।
नहिं प्रज्ञ हु प्रज्ञान-घन हु अप्रज्ञ कहावै ॥
अव्यवहार अदृष्ट अग्राह्य अचिन्त्य हु भाई ।
आतमा एकहि सार अकथ अद्वैत कहाई ॥
नहिं प्रपञ्च, शिव, शान्त वह, है अद्वैत सु आतमा ।
ब्रह्म पाद चौथो कह्यो, प्रणववाच्य परमातमा ॥

अवस्था से अतीत जो स्थिति है वही तुरीय कहाती है। उसे चौथी अवस्था कहो तो वह अवस्थाओं के अन्तर्गत आ जायगी।

❀ जो न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है और न उभयप्रज्ञ ही है। न प्रज्ञानघन है,न प्रज्ञ ही है और न अप्रज्ञ ही है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव तथा अद्वैत है। वही ब्रह्म का चौथा पाद है। ब्रह्मज्ञानी ऐसा ही मानते हैं। वही आत्मा है वही जानने योग्य है।

वास्तव में जहाँ अवस्था, व्यवस्था, व्यवहार, साधन, साध्य कुछ भी न हो, व्यवहार शून्य, नाम, देश, काल, पात्र किसी की भी कल्पना न हो, कल्पनातीत स्थिति का नाम ही परिपूर्ण है। उसका कथन नहीं किया जा सकता वह तो अकथ कहानी है, अग्राह्य ज्ञान है, जहाँ इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण, प्रकृति किसी की भी गम नहीं ऐसी स्थिति का ही नाम चतुष्पाद है। उसे स्थिति कहना भी अनुचित है, वह स्थिति नहीं स्थिति से भी अतीत है। उसके कहने का एक ढंग तो यह है कि तुम जो भी कल्पना कर सकते हो सब वही वह है, क्योंकि सभी कल्पनायें उसी को आधार मानकर की जा सकती हैं, दूसरा ढंग यह है, कि तुम जो भी कल्पना करोगे, जो भी अनुमान लगाओगे, जहाँ तक भी इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से, तुम दौड़ लगाकर जो निर्णय कर सकोगे वास्तव में वह नहीं होगा। वह उससे भी विलक्षण है। सबका सार यही है, कि वह अचिन्तनीय, अकथनीय, परमानन्द स्वरूप है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने ब्रह्म के तीन पादों का वर्णन तो किया, अब चतुर्थ पाद के सम्बन्ध में बता दीजिये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! चतुर्थ पाद बताने की वस्तु नहीं वह तो अनुभव की वस्तु है, अनुभव भी जब प्रकृति से परे होकर किया जाय तब। फिर भी माण्डूक्य मुनि ने जैसे बताया है, उसी प्रकार मैं आपके सामने कहता हूँ।"

ब्रह्म का प्रथम पाद बताते हुए जाग्रत अवस्था का अधिष्ठाता वैश्वानर बताकर उसे बहिःप्रज्ञ कहा गया है। द्वितीय पाद में स्वप्नावस्था का अधिष्ठाता तैजस कहकर उसे अन्तःप्रज्ञ कहा गया है, किन्तु जो न बहिःप्रज्ञ है और न अन्तःप्रज्ञ ही है तथा बहिःअन्तः उभयप्रज्ञ भी जो नहीं है। सुषुप्ति अवस्था का अधिष्ठाता प्राज्ञ को

बताकर उसे प्रज्ञानघन कहा गया है। वह प्रज्ञानघन भी नहीं है। अद्वैत भाव के ज्ञान से युक्त प्राज्ञ भी नहीं और अप्रज्ञ भी नहीं। वही चतुर्थ पाद ब्रह्म है।"

शौनकजी ने कहा—"यह तो नेति-नेति का कथन हुआ। यह भी नहीं, यह भी नहीं। अब वह है क्या ? कुछ अस्ति के रूप में भी तो बतावें ?"

सूतजी बोले—"बताने योग्य कोई विशेष्य हो तो उसके विशेषण भी दिये जा सकते हैं। जब विशेष्य ही अनिर्वचनीय है, तो विशेषण कहाँ से लावें। तथापि निषेधात्मक वृत्ति से ही कहते हैं—वह अदृष्ट है अर्थात् आज तक किसी के द्वारा इन चर्मचक्षुओं से न देखा गया हो। वह अव्यवहार्य है। वह इतना बेकार है कि आज तक किसी ने भी उसे अपने संसारी व्यवहार में व्यवहृत नहीं किया है। वह अग्राह्य है आज तक किसी ने उसे अपने हाथों से पकड़कर नहीं बाँधा। आज तक किसी ने उसे पूर्णरीत्या पहिचाना नहीं क्योंकि उसका कोई बाह्य लक्षण पहिचानने के चिन्ह नहीं मिले। वह अचिन्त्य है। चिन्तना चित्त के द्वारा की जाती है, चित्त की वहाँ पहुँच ही नहीं तो बेचारा चिन्तना कैसे करे। वह अव्यपदेश्य है। बड़े बड़े प्रवचनकार-उपन्यासकार-वक्ता सब विषयों के सम्बन्ध में बताते हैं किन्तु उसके सम्बन्ध में कोई यथार्थ बता ही नहीं सका है।"

शौनकजी ने कहा—"यह तो फिर आप वही नेति नेति पर आ गये। ऐसा नहीं, वैसा नहीं। कुछ तो बताइये कैसा है ?"

सूतजी बोले—"वह एकात्मप्रत्ययसार है। अर्थात् वह एक मात्र वही है। उसकी सत्ता का अस्तित्व है। उसके होने का सार सिद्धान्त यही है, कि उसके अस्तित्व की प्रतीति होती है। वह प्रपञ्चोपशम है। उसमें समस्त प्रपञ्चों का उपशम हो गया है।

प्रपञ्च का अभाव है। अशान्ति राग द्वेष के कारण होती है। उसमें न राग है, न द्वेष, सर्वथा शान्त है। वह शिव है, कल्याण स्वरूप है, मंगलमय है। वह अद्वैत है। न उससे कोई बढ़कर, न उसके कोई बराबर वाला, न उसका कोई पराया है, वह एकमात्र अपने ढंग का अद्वितीय है। यही ब्रह्म का चौथा पाद ऋषि मुनियों द्वारा माना गया है, अर्थात् कल्पित किया गया है। वही आत्मा है, वही परमात्मा है, वही ब्रह्म है, वही भगवान् है। उसी का जानना यथार्थ जानना है। और सब जानना तो गोरख धन्धा है, जानने योग्य वही है। उसी को जानना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! माण्डूक्य उपनिषद् के आरंभ में बताया था, ओंकार ही अक्षर ब्रह्म है, यह सब उसी ओंकार का ही उपव्याख्यान है। उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने वाला है। प्रणव उसी परब्रह्म परमात्मा का वाचक है। तो ब्रह्म की और प्रणव की एकता किस प्रकार है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! ब्रह्म कहो, प्रणव कहो, बात एक ही है। इस परब्रह्म को अध्यक्षर कहा गया है। अध्यक्षर का अर्थ है जो अक्षर रूप प्रणव है उसके समीप रहने वाला–अधिकार में वर्णित–उसी प्रकरण में कहा हुआ। फिर उसे अधिमात्र भी कहा है। अधिमात्र का अर्थ हुआ तीन मात्रा वाला। इसलिये वह परमात्मा, परब्रह्म और ओंकार एक ही है। जैसे प्रणव की अकार, उकार और मकार तीन मात्रायें हैं वे ही तीन मात्रायें मानों परब्रह्म परमात्मा के तीन पाद हैं।"

शौनकजी ने कहा—"प्रणव की कौन-कौन-सी मात्रा ब्रह्म का कौन-कौन पाद हैं ? इन मात्राओं में और पादों में साम्य किस प्रकार है, कृपया इसे भी बतावें ?"

सूतजी ने कहा—"पिछले प्रकरण में ब्रह्म का प्रथम पाद वैश्वा-

नर को बताया था वह वहिःप्रज्ञ, स्थूलभुक और जागरित स्थान कहा गया था अर्थात् जाग्रत अवस्था की भाँति स्थूल शरीर वाला वाहर की ओर–अर्थात् वाह्य जगत् की–प्रज्ञा वाला इसी प्रकार प्रणव की पहिली मात्रा जो अकार है वह सबमे व्याप्त होने के कारण–अर्थात् वाह्य जगत् मे जितने भी स्वर व्यंजनात्मक नाम वाले शब्द हैं उनमे ऐसा एक भी शब्द वाक्य या नाम नहीं है जिनमे 'अकार' व्याप्त न हो। अकार के बिना किसी शब्द का उच्चारण ही नहीं हो सकता। अतः सबमें व्याप्त होने के कारण यह वैश्वानर के सदृश है। यह भगवान् की अकार विभूति भी है। दूसरे यह आदि वाला है, अर्थात् वर्णों मे सबसे आदि मे इसी की उत्पत्ति होती है। यही आदि वर्ण है। स्थूल जगत् रूप देह मे जैसे वैश्वानर सर्वत्र व्याप्त है और विराट् रूप से सबसे प्रथम हुआ है। वही बात प्रणव की अकार के सम्बन्ध में है।"

इस प्रकार जो ब्रह्म के प्रथम पाद तथा प्रणव की प्रथम मात्रा अकार की एकता को जानता है, वह निश्चय करके सभी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, उसे ससारी भोगों की कमी नहीं रहती। वह भी सबका आदि, मूर्धन्य, अध्यक्ष अथवा प्रधान बन जाता है, यह ब्रह्म के प्रथम पाद वैश्वानर की तथा प्रणव के आदि अकार की एकता की महिमा कही।

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस और प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की एकता के सम्बन्ध में और बताइये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवन्! ब्रह्म का जो द्वितीय पाद तैजस है, जिसका स्वपन की भाँति सूक्ष्म जगत् ही स्थान है। उसकी समता प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार के साथ की गयी है। उकार ओंकार की द्वितीय मात्रा है और उत्कर्ष रूप तथा उभयात्मक है। उकार उत्कर्ष इसलिये है, कि अकार से ऊपर उठा है,

उभयात्मक इसलिये है कि अकार और मकार के बीच में है।" अतः अकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है और मकार के साथ भी इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इससे यह मध्यस्थ उभयात्मक है। यही बात प्रणव की द्वितीय मात्रा स्वप्न स्थानीय तैजस के सम्बन्ध में है। यह तैजस अर्थात् हिरण्यगर्भ वैश्वानर से उत्कृष्ट है और वैश्वानर तथा प्राज्ञ के मध्य में होने से मध्यस्थ तथा दोनों से सम्बन्धित होने के कारण उभयात्मक है। इस प्रकार जो पुरुष ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस, प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार दोनों की एकता की महिमा को जानता है, वह अवश्य ही ज्ञान की सन्तति को, ज्ञान की परम्परा को उत्कर्ष बनाता है-उन्नत करता है। तथा दोनों की समानता के ज्ञान के कारण समान भाव वाला हो जाता है। उसकी वंश परम्परा में-कुल में-ऐसा कोई नहीं होता जो ब्रह्मवित् न हो-ब्रह्म का ज्ञाता न हो। यह मैंने ब्रह्म के द्वितीय पाद तैजस की तथा प्रणव की द्वितीय मात्रा उकार की महिमा आप से कही।"

शौनकजी ने पूछा—"अब आप ब्रह्म के सुषुप्ति स्थानीय प्राज्ञ तृतीय पाद की और प्रणव की तृतीय मात्रा मकार की एकता का वर्णन और कीजिये ?"

सूतजी कहने लगे—"ब्रह्मन ! ब्रह्म का तृतीय पाद सुषुप्त स्थानीय कारण जगत् का अधिष्ठाता प्राज्ञ सर्वज्ञ है। सबको जानता है। जगत की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन अवस्थायें हैं, इनको भली-भाँति जानने के कारण ही इसकी प्राज्ञ संज्ञा है। कारण जगत ही सूक्ष्म तथा स्थूल जगत का उत्पादक है। इसी प्रकार प्रणव की जो तृतीय मात्रा मकार है। यह मा धातु से बनी है। जो मापने-नाप लेने-के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह सब वस्तुओं का नाप लेना है। यह मकार प्रणव की अंतिम मात्रा है।

विलीन करने वाला है। जैसे प्रणव के अकार उकार को कह
मकार कहते ही ओष्ठ बंद हो जाते हैं। ब्रह्म का तृतीय पाद सु
की भाँति कारण जगत् में स्थूल सूक्ष्म विलीन हो जाते हैं।
प्रकार दोनों की समानता है। जो इन दोनों की एकता के र
को जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है, अ
इसकी चौड़ाई, लम्बाई, ऊँचाई, नीचाई आदि के सभी रह
को जान जाता है। और सबको अपने में विलीन करने की साम
वाला होता है। यह मैंने ब्रह्म के तृतीय पाद प्राज्ञ की तथा प्र
तृतीय मात्रा मकार की एकता की महिमा बतायी।"

शौनकजी ने कहा—"प्रणव की मात्रा तो तीन ही हैं, वि
चौथा अमात्रिक प्रणव का तथा ब्रह्म के चतुष्पाद की एकता
महिमा और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तीनों मात्राओं वाला प्रणव
व्यावहारिक है। उसका व्यवहार में उपयोग होता है, बोला ज
है, सुना जाता है, उसका उच्चारण करते कराते हैं, उपदेश देते
किन्तु अमात्र प्रणव तो ब्रह्म के चतुर्थ पाद प्रपञ्चोपशम का भ
अव्यवहार्य है। अर्थात् व्यवहार में आने वाला नहीं
और प्रपञ्च से रहित है। जैसे ब्रह्म का चतुर्थ पाद शिव स्व
अद्वैत है वैसे ही प्रणव का अमात्र रूप शिव अद्वैत तथा कल्य
स्वरूप है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा नामी है, वाच्य है, प्र
उसका वाचक नाम है। नाम और नामी में भेद नहीं हो
दोनों का परस्पर में अभेद सम्बन्ध हुआ करता है। जो वस्
और उसका जो नाम है दोनों एक हैं। जैसे मिट्टी के बने नि
आकार के पदार्थ को घट कहते हैं वह पदार्थ और उसका न
घट दोनों एक ही हैं। इसी प्रकार प्रणव और परब्रह्म दोनों
ही हैं, जो पुरुष इन नाम नामी—प्रणव और परब्रह्म की अ

के रहस्य को भली भाँति जान लेता है वह आत्मा से आत्मा में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो जाता है। अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मा मे प्रवेश कर जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनिवर ! न तो प्रणव की मात्राओं में ही भेद है, न ब्रह्म के ही पाद हो सकते हैं। यह तो केवल स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय की तथा निर्गुण निराकार और सगुण-साकार की एकता दिखाने के लिये इस प्रकार की पृथकता तथा एकता की कल्पना की गयी है। इस प्रकार यह छोटी-सी माण्डूक्य उपनिषद् समाप्त हुई।"

छप्पय

ब्रह्मपाद जो तीनि प्रणव की मात्रा तीनहु।
जाग्रत वैश्वानर हु प्रणव की मात्र अकारहु॥
मात्रा द्वितीय उकार स्वपन तैजस तिहि जानो।
मात्रा तृतीय मकार सुषुप्ती प्राज्ञ बखानो॥
जो अमात्र ओंकार है, शिव, अद्वैत प्रपञ्च बिन।
मात्रा चौथी ब्रह्म धी, जानि ब्रह्म प्रविसे सदन॥

अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त।

शान्ति पाठ

छप्पय

सुरगन ! हम सब चहें करें मिलि यजन ब्रह्म नित।
कानन तें हु सुनें वचन शुभ भद्र निरत हित॥
ऑखिनि तें हु सदा निहारें दृश्य भद्रवर।
सुदृढ़ अंग तनु लगे ईश इस्तुति में दृढ़तर॥
शेष आयु हमरी सकल, रहें देवहित में निरत।
मनुज जनम उपयोग यह, लग्यो रहे तप में सतत॥

छप्पय

देवराज हे इन्द्र! चहूँ दिशि तव यश छायो।
विश्वदेव हे सूर्य! प्रकाशहु जग फैलायो॥
गरुड निवारक कष्ट! शक्तिशाली सुनेमि सम।
धन्य बृहस्पतिदेव! करें मिलि विनती सब हम॥
तुम सब तें ही विनय हैं, स्वस्ति परें मङ्गल करें।
शान्ति त्रिविध तापनि करें, दुःख शोक भ्रम भय हरें॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

शान्ति पाठ

[५६]

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु ।
अवतुमाम् । अवतु वक्तारम् ॥*

तै० उ० शा० पा०

ॐ शान्तिः ! ॐ शान्तिः !! ॐ शान्तिः !!!

छप्पय

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, गुरु, विष्णु-उरुक्रम ।
करें सबहिँ कल्याण करत विनती सबकी हम ॥
नमस्कार है ब्रह्म-देवकूँ आत्म-भूप जो ।
करें नमस्ते वायुदेवकूँ ब्रह्मरूप जो ॥
तुमहिँ एक प्रत्यक्ष हो, कहूँ सत्य ऋत तुम विभो ।
श्रोता वक्ता की सतत, रक्षा करि पालो प्रभो ॥

---

* ॐ मित्र देव हमें कल्याणकारक हों, वरुण भी वा हों, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति शान्तिप्रदायक हों, उरुक्रम विष्णु हमको कल्याणकारी हों.

यह समस्त जगत् कलात्मक है। कला का अर्थ है जो कलन करे, एकत्रित करे, संग्रह करे। जैसे किसी के पास मूलधन सौ रुपये हैं, उन्हें किसी को व्याज पर दे दें, तो वे सौ तो ज्यों के त्यों ही बने रहेंगे। ऊपर से व्याज रूप में और धन बटोर लेंगे यही कला है (कलयति वृद्धितो धन सगृह्णाति सचिनोति इति कला) कला समय का भी नाम है। चौंसठ कलायें प्रसिद्ध ही हैं। वैद्यक में शरीर के अंश विशेष को भी कला कहते हैं। किन्तु उपनिषदों में विराट् के शरीर को षोडश कलात्मक कहा है। अर्थात् उन परब्रह्म परमात्मा से सोलह कलाओं का समुदाय संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। ये सोलह कलायें बढकर ही विराट् विश्व ब्रह्माण्ड जगत् के रूप में विस्तृत हो गया है। वे विराट् पुरुष की सोलह कलायें कौन-कौन-सी हैं? १-श्रद्धा, २-पृथ्वी, ३-जल, ४-तेज, ५-वायु, ६-आकाश, ७-समस्त इन्द्रियाँ, ८-मन आदि अन्तःकरण चतुष्टय, ९-अन्न, १०-वीर्य, ११-तप, १२-मन्त्र, १३-कर्म, १४-समस्त लोक और, १५-ससार के समस्त नाम। ये सबके सब चैतन्य होकर जगत् की वृद्धि करते हैं। मन्त्र भी चैतन्य होते हैं। मन्त्र केवल वर्ण समुदाय वाक्य नहीं। वह तो साक्षात् भगवान् का रूप है। भगवान् तो अमूर्त हैं, मन्त्र ही उन अमूर्त भगवान् की चैतन्य मूर्ति है। मन्त्र चैतन्य होते हैं तप से। तपस्या के द्वारा वर्णात्मक मन्त्र चैतन्य होकर सजीव हो जाते हैं, तभी वे फल देते है। मन्त्रों में कितनी भारी शक्ति होती थी, महाराज परीक्षित् ने पिता की मृत्यु से क्रुद्ध होकर अपने

ब्रह्म को नमस्कार है। वायु को नमस्ते। तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुमको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा, तुमको ही ऋत कहूँगा। तुम्हे ही सत्य कहूँगा। मेरा रक्षा करें। वक्ता की भी रक्षा करें, रक्षा करें। ॐशान्ति, शान्ति, शान्ति।

पिता को काटने वाले सर्प के कारण समस्त सर्पों के नाश के निमित्त सर्वसत्र अभिचार यज्ञ किया। मन्त्रों के प्रभाव से जो सर्प जहाँ बैठे होते, वहीं से खिंच-खिंचकर चले आते और चिल्लाते हुए कुंड की अग्नि में गिरकर स्वाहा हो जाते। असंख्यों सर्प जल गये। राजा ने पूछा—"जिस दुष्ट तक्षक के कारण मैंने यह यज्ञ किया है, वह तक्षक अभी तक क्यों नहीं आया?"

याज्ञिक ब्राह्मणों ने कहा—"राजेन्द्र! उस तक्षक की रक्षा देवेन्द्र कर रहे हैं, वह इन्द्र के सिंहासन से लिपटा हुआ है।"

राजा ने पूछा—"क्या आपके मंत्रों में इतनी सामर्थ्य नहीं है, कि सिंहासन समेत इन्द्र को भी बुलाकर इस यज्ञाग्नि में भस्म कर दो?"

ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्! हमारे मंत्र अयातयाम हैं, हमने रात्रि दिन तप संयम से उन्हें सिद्ध किया है। हमारे मंत्रों में सब प्रकार की सामर्थ्य है, केवल आपकी आज्ञा की देरी है। आप कहें तो हम सिंहासन सहित इन्द्र को बुलाकर इसमें स्वाहा कर दें। इन्द्र और उसके सिंहासन सहित तक्षक भी साथ ही भस्म हो जायगा। आपकी जैसी आज्ञा?"

राजा ने कहा—"तक्षक को उसके रक्षक इन्द्र सहित भस्म कर दीजिये।"

ब्राह्मणों को क्या था, उन्होंने मंत्र पढ़े, मंत्र का प्रभाव तो देखिये, सिंहासन सहित शचीपति इन्द्र खिँचा हुआ चला आया। तब बीच में लोक पितामह ब्रह्माजी ने पड़कर किसी प्रकार से इन्द्र की रक्षा की।

ऐसे प्रभावशाली होते थे, ब्राह्मणों के तपःपूत मंत्र। जो मंत्र सदाचार, तप, स्वाध्याय द्वारा चैतन्य नहीं किये गये हैं, वे तो वर्णात्मक शब्द मात्र हैं। उनका कोई प्रभाव नहीं होता। जिन्होंने

यम नियमों का विधिपूर्वक दीर्घकाल तक अभ्यास करके घोर तप किया है उन्हीं की ऋषि संज्ञा है, ऐसे ऋषि ही मन्त्रद्रष्टा होते हैं। उनसे जिन्हें वे मन्त्र परम्परया प्राप्त हैं और प्राप्त करके जिन्होंने तपः द्वारा उन चैतन्य मन्त्रों को पावन बना लिया है, वे विश्वामित्र की भाँति नूतन सृष्टि करने की सामर्थ्य रखते हैं। मन्त्रों का प्रभाव अमोघ होता है।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य इन छः उपनिषदों की कथा तो आपने कही। अब सातवीं उपनिषद् कौन सी है ? उसकी कथा भी हमें सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! उपनिषद् तो सभी स्वतन्त्र ही हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं। मुक्तक छन्दों के सदृश वे सब पृथक् पृथक् हैं। फिर भी ऋषियों ने सुविधा के लिये इनका क्रम बना दिया है। पुराणों में, उपनिषदों में इनकी क्रम संज्ञा दी है। कोई तो माण्डूक्य के पश्चात् ऐतरेय उपनिषद् को बताते हैं, कोई तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहते हैं। अधिकांश तैत्तरेय को कहकर तब एतरेय को कहा करते हैं। आपकी आज्ञा हो,तो मैं भी पहिले तैत्तरेय को ही कहकर तब एत्तरेय को कहूँ ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! मिश्री की ठिलिया में जिधर से भी मुँह मारो उधर ही मुख मीठा होगा। हमें तो कोई अन्तर पडता नहीं। चाहे आप पहिले एतरेय सुनावें या तैत्तिरीय। अच्छी बात है, तैत्तिरीय ही सुनाइये। इस उपनिषद् का नाम तत्तिरीय उपनिषद् क्यों पड़ा ? तित्तिर या तीतर तो पक्षी होता है, पक्षी के द्वारा यह उपनिषद् कैसे कही गयी ? पक्षियों को चैतन्य मन्त्रों की उपलब्धि कैसे हुई ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! ये मन्त्र ग्रहण करने वाले तीतर साक्षात् तीतर नहीं थे, बने हुए तित्तिर थे। इस सम्बन्ध में एक

कथा है जिसे पीछे मैं कई बार कह चुका हूँ, किन्तु प्रसंगानुसार उसे पुनः सुनाता हूँ। ऋषि-महर्षि तथा पुण्यश्लोक पुरुषों की कथाओं मे पुनरुक्ति नहीं मानी जाती। उसे जितनी भी बार चाहे सुनाओ। कहने वाले जितनी भी बार कहेंगे, सुनने वाले जितना भी बार सुनेंगे, श्रोता वक्ताओं को उतनी ही बार पुण्य की प्राप्ति होगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! पुण्यश्लोक पुरुषों की कथा तो जितनी ही बार सुनने को मिले उतनी ही बार पुण्यप्रद होती है, तभी तो हम आप से अनजान की भाँति प्रश्न कर देते हैं। हाँ तो सुनाइये कौन-सी कथा है?"

सूतजी बोले—"महाराज, एक बार समस्त ऋषियों का समाज एकत्रित हुआ। उस ऋषि सभा मे एक प्रस्ताव पारित हुआ। "इस सभा की प्रत्येक पूर्णिमा को बैठक हुआ करेगी। जो ऋषि उस दिन आकर इस सभा मे सम्मिलित न होंगे, उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा।" ब्रह्महत्या के पाप के भय से सभी ऋषि महर्षि उस पर्व के दिवस नियमित रूप से आने लगे। एक दिन किसी कार्य विशेष से भगवान् वेदव्यास के शिष्य 'निगद' नाम की यजुर्वेद संहिता के अध्येता महर्षि वैशम्पायनजी पर्व के दिन उस सभा में उपस्थित नहीं हो सके, ऋषियों का वचन तो पत्थर की लकीर के सदृश अमिट होता है, वे सत्य के उपासक होते हैं, उनकी वाणी कभी व्यर्थ नहीं होती है। नियमानुसार वैशम्पायन मुनि को ब्रह्महत्या का पाप लग गया और उन्होंने सत्य की रक्षा के लिये उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

वे वेद की यजुर्वेद संहिता के एक मात्र अध्येता आचार्य थे, उनके पास यजुर्वेद पढ़ने बहुत से शिष्य रहते थे। कुछ छोटी अवस्था के थे, कुछ बड़ी अवस्था के भी थे। छोटी अवस्था के

विद्यार्थियों ने आकर विनीतभाव से आचार्य के चरण कमलों में प्रार्थना की—"गुरुदेव ! आप आज्ञा दें आपके बदले आपकी ब्रह्महत्या के पाप का हम प्रायश्चित्त करें, शिष्य जो होता है आचार्य का पुत्र ही होता है, पुत्र पिता की आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अतः हम ही सब आपके बदले में प्रायश्चित्त करेंगे।"

शिष्यों का अत्यन्त आग्रह देखकर भगवान् वैशम्पायन ने उन्हें प्रायश्चित्त करने की अनुमति दे दी। वे प्रायश्चित्त करने लगे। वैशम्पायनजी के एक शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि भी थे। ये महर्षि विश्वामित्र के पौत्र थे। विश्वामित्र की बहिन अजीगर्त मुनि को विवाही थी, उनके तीन पुत्र हुए, मध्यम पुत्र का नाम शुनःशेप था, उसे महाराज हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित अपने यज्ञ में यज्ञ पशु बनाने के लिये क्रय कर लाये थे। शुनःशेप बलिदान के भय से दुखी थे। तब उनके मामा विश्वामित्रजी ने उन्हें वरुण की स्तुति के मन्त्र बता दिये। उन मन्त्रों से यज्ञ के मुख्य देवता वरुण प्रसन्न हुए और उन्होंने शुनःशेप को विश्वामित्रजी को दे दिया। अर्थात् वे बलिदान से बच गये। देव द्वारा रात– अर्थात् दिया हुआ होने से उनका नाम देवरात हो गया, जब विश्वामित्रजी ने उससे अपने पिता के पास जाने को कहा तो, उसने कह दिया—(पाति-रक्षति) जो रक्षा करे वही पिता है। मेरे जनक ने तो मुझे बेच दिया था। आपने मेरी रक्षा की है, अतः धर्मतः आप ही मेरे पिता हैं। मैं आपको ही आज से अपना पिता मानता हूँ।

यह सुनकर विश्वामित्रजी बहुत प्रसन्न हुए उन्होंने अपने पुत्रों को बुलाकर कहा—"इस देवरात को तुम अपना बड़ा भाई मानो"। पचास ने कहा—"हम तो इसे अपना बड़ा भाई नहीं मानते।" इस पर विश्वामित्रजी ने उन्हें म्लेच्छ हो जाने का

शाप दिया। जिन्होंने उन्हें बड़ा मान लिया, वे ब्राह्मण हुए। उनमें देवरात सबसे बड़े विश्वामित्र के पुत्र कहलाये। उन देवरात के ही पुत्र याज्ञवल्क्य मुनि हुए। याज्ञवल्क्य को देवरातजी ने यजुर्वेद पढ़ने के लिये वैशम्पायन मुनि के पास भेजा। ये अपनी विलक्षण बुद्धि के कारण महर्षि के शिष्यों में प्रधान माने जाते थे। जिस समय प्रायश्चित्त वाला प्रस्ताव हुआ था, प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्य मुनि उस समय वहाँ उपस्थित नहीं थे। किसी कार्य विशेष से बाहर चले गये होंगे। जब वे लौटकर आये तो उन्होंने अपने छोटे छोटे गुरु भाइयों को कठोर प्रायश्चित्त करते हुए देखा। उन्होंने आचार्य से पूछा—"गुरुदेव! ये छोटे बटु क्या कर रहे हैं?"

वैशम्पायन मुनि ने कहा—"भैया, ऋषि समाज के पर्व पर उपस्थित न होने के कारण मुझे ब्रह्महत्या का पाप लग गया है, उस पाप के प्रायश्चित्त के निमित्त ये मेरी ओर से व्रत कर रहे हैं।"

यह सुनकर याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा—"भगवन्! ये बेचारे ब्राह्मण कुमार जो प्रायश्चित्त व्रत करने के कारण चरकाध्वर्यु नाम से कहे जाते हैं ये तो अल्पशक्ति वाले हैं, ये अल्पवीर्य क्या प्रायश्चित्त करेंगे? इन अल्पसार बच्चों के व्रत पालन से लाभ ही क्या हो सकता है? मैं परम शक्तिशाली आपका शिष्य हूँ। मैं अकेला ही आपके प्रायश्चित्त के निमित्त बहुत ही दुश्चर तपस्या करूँगा, कठोर व्रत करूँगा।"

प्रतीत होता है, याज्ञवल्क्यजी को अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का, वेद ज्ञान का आवश्यकता से अधिक अभिमान हो गया होगा। गुरुदेव उनके अभिमानी स्वभाव के कारण मन ही मन उनसे असन्तुष्ट रहते होंगे। आज जब उन्होंने प्रत्यक्ष ही ऋषिकुमारों का अपमान किया और अभिमानवश अपने को सर्वश्रेष्ठ बताया, तो आचार्य

उनके इस व्यवहार से असन्तुष्ट हो गये। उन्हें क्रोध आ गया। उन्होंने कुपित होकर याज्ञवल्क्य मुनि से कहा—"बस, बहुत हो गया। अब विशेष बकवाद न करो। मैं जान गया तुम्हें अधिक अभिमान हो गया है, तभी तो तुम ब्राह्मण बालकों का इस प्रकार अपमान कर रहे हो। अब तुम तुम मेरे शिष्य रहने योग्य नहीं रहे। मुझे तुम्हारे जस शिष्यों की आवश्यकता नहीं। तुमने अब तक मुझसे जिन मन्त्रों का अध्ययन किया है। जो विद्या मुझसे पढी है, उसका शीघ्र से शीघ्र परित्याग करके मेरे आश्रम से तुरन्त चले जाओ।"

याज्ञवल्क्यजी उसी समय अभिमान त्यागकर गुरु के पैरों मे पड़ जाते, और विनीत भाव से अपने अपराध के लिये क्षमा याचना करते, तो बात न बढती, किन्तु उन्हें भी क्रोध आ गया, कि एक तो मैं घोर तप करके इन्हें पाप से मुक्त करना चाहता हूँ। तिस पर भी ये मुझे विद्या का परित्याग करके चले जाने को कह रहे हैं, यह सोचकर वे भी आपे से बाहर हो गये। वे विश्वामित्रजी के पौत्र और देवरात मुनि के पुत्र थे, अतः उन्होंने आचार्य की आज्ञा पाते ही योग विद्या द्वारा उनके उदर के भीतर जितने भी गुरु के दिये हुए चेतन्य मन्त्र थे, उन्हे उगल दिया। वे दिव्य मन्त्र थे। क्रोध से उगले गये मन्त्र जैसे पृथ्वी पर पडी हुई पारे की बिन्दु इधर-उधर लुढकती हैं, वैसे ही वे दिव्य मन्त्र पृथ्वी पर लुढकने लगे। योगेश्वर याज्ञवल्क्य योग द्वारा मन्त्रों को उगलकर गुरु को प्रणाम करके तुरन्त उनके आश्रम से बाहर हो गये।

अब उन दिव्य मन्त्रो को इस प्रकार लुढकते देखकर कुछ मद बुद्धि विद्यार्थी जो तप स्वाध्याय से घबडाते थे, ललचाने लगे, कि किसी प्रकार हमे ये दिव्य मन्त्र प्राप्त हो जाते। किन्तु दूसरों द्वारा वमन की हुई वस्तु का खाना धर्म शास्त्र में निषेध है। मनुष्य

शरीर से तो वे उन्हें ग्रहण कर नहीं सकते थे। अतः गुरु का संकेत पाकर वे योगबल से तित्तिर—तीतर—बन गये और सब मंत्र उन्होंने चुग लिये। मन्त्र तो वे दिव्य ही थे। परम्परागत प्राप्त थे, किन्तु वे तपस्या द्वारा प्राप्त नहीं किये गये। लालचवश बिना श्रम के प्राप्त हुए। इसीलिये बुद्धि की मलिनता से वे कृष्ण हो गये। अतः कृष्ण यजुर्वेद की वह शाखा तैत्तिरीय शाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

याज्ञवल्क्य मुनि ने निश्चय कर लिया, अब मैं मनुष्य को गुरु नहीं बनाऊँगा, भगवान् सूर्य की आराधना करके ऐसे मन्त्र प्राप्त करूँगा, जो मेरे गुरु के भी पास न हों। उन्होंने घोर तपस्या द्वारा सूर्य को प्रसन्न किया। सूर्यदेव ने अश्वरूप से उन्हें मन्त्रों का उपदेश दिया जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा है, उसके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक है। उस तैत्तिरीय आरण्यक के दश अध्याय हैं। उस आरण्यक के जो सातवें, आठवें और नवें अध्याय हैं, वे ही तैत्तिरीय उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः अब उसी तैत्तिरीय उपनिषद् का आरम्भ किया जाता है। उपनिषदों के आदि अन्त में शान्ति पाठ करने की प्राचीन प्रथा है। इस उपनिषद् में वे ही मन्त्र तो शान्ति पाठ में हैं और वे ही पहिली शिक्षा वल्ली के प्रथम अनुवाक में हैं। अत. इसे शान्ति पाठ और प्रथम अनुवाक दोनों ही समझना चाहिये।

पहिले परब्रह्म परमात्मा का वाचक जो ओंकार है, उसी का आदि में उच्चारण करके सर्वरूप परब्रह्म परमात्मा की सूत्रात्मा वायु के रूप में प्रधानता से प्रार्थना की गयी है। भिन्न भिन्न नाम, भिन्न भिन्न रूप उन्हीं के हैं। ये अवयवी हैं और ये सब देवगण अवयव हैं। अतः—

मित्र देव हमारे लिये कल्याणकारक हों।
वरुणदेव हमारे लिये कल्याणकारक हों।
अर्यमा पितर हमारे लिये कल्याणकारक हों।
इन्द्र देवराज हमारे लिये कल्याणकारक हो।
बृहस्पति देवगुरु हमारे लिये कल्याणकारक हो।
उरूक्रम वामन विष्णु हमारे लिये कल्याणकारक हो।
परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है।
हे वायुदेव ! आपके लिये नमस्कार है।
हे वायु देव ! आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म स्वरूप हैं।
इसलिये हे वायुदेव ! मैं तो आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा।
हे वायुदेव। मैं तो आपको ही प्रत्यक्ष ऋत कहूँगा।
हे वायुदेव ! मैं तो आप ही को प्रत्यक्ष सत्य कहूँगा।

इसलिये आप मेरी रक्षा करो। मेरे जो आचार्य वक्ता गुरुदेव हैं, उनकी भी रक्षा करो देखिये मेरी रक्षा करना, भला-भूलियेगा नहीं फिर याद दिलाता हूँ, मेरे वक्ता गुरु की भी रक्षा करना।

आधिभौतिक विघ्नों की शान्ति हो।
आधिदैविक विघ्नों की शान्ति हो।
आध्यात्मिक विघ्नों की शान्ति हो।

इस प्रकार यह शान्ति पाठ भी हुआ और तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षा-वल्ली का प्रथम अनुवाक भी समाप्त हुआ।

दोहा

मित्र देव कल्याण मम, कीजे मित्र समान।
जो अपान अरु रात्रिपति, वरुण रखे मम ध्यान॥
चक्षु सूर्य मडप अधिप, करें अर्यमा शान्ति।
बल वायू के अधिप जो, इन्द्र मेटि मम भ्रान्ति॥

वाक् बुद्धि के अधिप हो, देव वृहस्पति आप।
करें सदा कल्याण मम, मेटें दुख सन्ताप॥
वायुदेव ! सर्वज्ञ तुम, पुनि-पुनि करूँ प्रनाम।
ब्रह्मदेव प्रत्यक्ष तुम, कहूँ ब्रह्म तव नाम॥
तुम्हें सत्य अरु ऋत कहूँ, रक्षा करि मम नित्य।
वक्ता की रक्षा करो, आपु देव हैं सत्य॥
मेरी अरु आचार्य की, रक्षा कीजे देव।
त्रिविध ताप की शान्ति हो, पाईं ब्रह्म को भेव॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाँच महासंहिताओं का वर्णन

[५७]

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः स ँहिताया उपनिषद् व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधि-ज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महास ँहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सधानम्। इत्यधिलोकम्॥*

(तै० उ० शि० व० ३ अ०)

छप्पय

वर्ण, साम, सन्तान बल हु मात्रा बिनु शुद्धी।
वेद पाठ जे करें पाइँ फल नहीं कुबुद्धी॥
महासहिता पाच कहीं अधिलोक अधिप्रज।
अधिज्यौतिष अधिविद्य और अध्यात्म सुनहु द्विज॥
पूर्वरूप पृथिवी कही, उत्तररूप हु स्वरग है।
सधि अकाश बतावते, वायु कही सन्धान है॥

---

* साथ साथ हम दोनों का यश बढे। साथ ही ब्रह्मवचस बढे। तदनतर सहिता के उपनिषद् का वर्णन करेंगे। वह पाँच अधिकरण स्थानों में है। उनके नाम अधिलोक अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। इन सबको महासहिता इस नाम से पुकारते हैं। पहिली अधिलोक सहिता है। इसका पृथिवी पूर्वरूप है। स्वग उत्तररूप है, आकाश सन्धि है, वायु सधान है, यही अधिलोक सहिता है।

वैयाकरणों का सिद्धान्त है एक भी शब्द यदि भली-भाँति प्रयुक्त किया जाय, तो वह स्वर्गलोक मे तथा इस लोक में समस्त कामनाओं को देने वाला होता है (एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक् ज्ञातः स्वर्गेलोके च कामधुक् भवति) इसके विपरीत एक भी दुष्ट शब्द स्वर से या वर्ण से मिथ्या प्रयोग किया जाय, तो उस शब्द के यथार्थ अर्थ का अवबोधन नहीं करायेगा। वह वाक् वज्र होकर यजमान को ही मार डालेगा। जैसे इन्द्र शत्रु कहने से केवल त्वष्टा मुनि से एक स्वर का अपराध हो गया था, उसी के कारण वे पैदा तो ऐसा पुत्र करना चाहते थे, जो इन्द्र को मार डाले किन्तु उदात्त होने से पैदा ऐसा हो गया जिसे इन्द्र ने ही मार डाला। (दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्) इसलिये लौकिक शब्दों में कुछ त्रुटि रह भी जाय, किन्तु वैदिक शब्दों का उच्चारण बड़ी ही शुद्धता के साथ करना चाहिये। किस वर्ण को कैसे उच्चारण किया जाय इस विषय के शास्त्र को शिक्षा कहते हैं। सर्वप्रथम इसी बात की शिक्षा दी जाती है, कि वर्णों का उच्चारण कैसे किया जाय। इसमें ६ नियम हैं, वर्ण और स्वर का विचार, मात्रा और बल का विचार, साम और सन्तान का विचार। उच्चारण के समय ६ बातों पर ध्यान देना चाहिये, सबसे पहिले वर्णों की ही शुद्धि पर विचार करें जैसे सकृत् शब्द है इसे शकृत उच्चारण करो तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। सकृत् कहते हैं थोड़े को और शकृत् कहते हैं विष्ठा को। इसी प्रकार-स्वजन कहते हैं अपने आदमी को। श्वजन कहते हैं, कुत्ता के पुरुष को अर्थात् कुत्ता को। इस प्रकार तनिक से उच्चारण भेद से ही दूसरा अर्थ हो जाता है।

वर्ण दो प्रकार के होते हैं। क से लेकर ज्ञ तक तो व्यंजन वर्ण

हैं और अ से लेकर अ तक स्वर वर्ण हैं। दोनों का ही उच्चारण शुद्ध होना चाहिये। तनिक भी व्यत्यय होने से अर्थ में गड़बड़ी हो जायगा। यह तो वर्ण शुद्धि की बात हुई।

दूसरी बात स्वर का है। स्वर तीन प्रकार के होते हैं उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। एक ही शब्द को उदात्त स्वर में उच्चारण करो उसका दूसरा अर्थ हो जायगा, उसी को अनुदात्त में करो तो अन्य अर्थ का द्योतक होगा, स्वरित में करने से और हो। इसलिये ध्यान रखे कि उच्च, मध्य और निम्न स्वर में किसका उच्चारण करे। स्वर भेद उच्चारण में भारी दोष है।

वर्ण और स्वरों के अनन्तर मात्राओं की शुद्धाशुद्धि पर ध्यान देना चाहिये। मात्रा तीन प्रकार की होती हैं ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत। जहाँ ह्रस्व मात्रा है वहाँ आपने दीर्घ उच्चारण कर दी तो अर्थ का अनर्थ हो जायगा। इसलिये जहाँ ह्रस्व मात्रा हो वहाँ ह्रस्व का उच्चारण करो, जहाँ दीर्घ हो वहाँ दीर्घ का और जहाँ दूर से पुकारना हो वहाँ प्लुत का उच्चारण करो यही मात्राओं की शुद्धि का प्रकार है।

वर्ण, स्वर और मात्राओं के अनन्तर बल की शुद्धि पर विशेष ध्यान देना चाहिये। किस शब्द पर किस वाक्य पर विशेष बल दिया जाना चाहिये यह बहुत सूक्ष्म भेद है। वर्णों के उच्चारण में उनकी ध्वनि को व्यक्त करने में जो प्रयास है, किस वर्ण पर कितना बल देना चाहिये यही बल कहलाता है। व्याकरण वाले इसी बल का प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं। इसमें भी आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है और बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का। आभ्यन्तर प्रयत्न के भेदों के नाम १ स्पृष्ट, २. ईषत् स्पृष्ट, ३. विवृत, ४. ईषद् विवृत और ५. संवृत। इसी प्रकार बाह्य

प्रयत्न के भेदों के नाम ये हैं—१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त और ११. स्वरित।

इस प्रकार वर्ण, स्वर, मात्रा और बल (या प्रयत्न) को बता कर अब साम के सम्बन्ध मे बताते हैं, कैसे वर्णों का समवृत्ति से उच्चारण करना चाहिये इसकी रीति सामगान करने वाले विद्वान् जानते हैं। उसी विधि से साम स्वर मे गाना चाहिये।

अब वर्ण, स्वर, मात्रा, बल और साम के अनन्तर सन्तान के सम्बन्ध में बताते हैं-संतान का अर्थ है संहिता। व्याकरण में इसे सन्धि कहते हैं। यह सन्धि पाँच प्रकार की होती है। १. स्वर सन्धि, २. व्यंजन सन्धि, ३. स्वादि संधि, ४. विसर्ग सन्धि और ५. अनुस्वार सन्धि।

१—स्वर सन्धि—जिसे अच् सन्धि भी कहते हैं, इसमें एक स्वर वर्ण सामने वाले वर्ण में संधित हो जाता है, मिल जाता है। जैसे—सुधी+उपास्य=सुद्ध्युपास्य। मधु+अरि=मद्ध्वरि। धातृ+अंश=धात्रंश। लृ+आकृति=लाकृति, आदि २।

२—व्यंजन सन्धि—जिसे हल् सन्धि भी कहते हैं—एक व्यंजन वर्ण सामने वाले वर्ण में मिलकर उसका दूसरा ही रूप हो जाता है। जैसे हरिः+शेते=हरिश्शेते। रामः+चिनोति=रामश्चिनोति, सत्+चित्=सच्चित्, आदि आदि।

३—विसर्ग सन्धि—इसमें विसर्ग के स्थान में कहीं सकार हो जाता है, कहीं ओकार हो जाता है, कहीं विसर्गों का लोप हो जाता है और कहीं विसर्ग के विसर्ग ही बने रहते हैं। जैसे दुः+सह=दुस्सह। कः+भवान=को भवान। हरिः+शेते=हरिश्शेते, हरिःशेते, आदि आदि।

४—स्वादि संन्धि—इसमें पद के अंत मे जो सु है उसकी

सन्धि की जाती है। इसी प्रकार ५-अनुस्वार कहाँ ऊपर चढ़ जाता है, कहाँ म् रह जाता है इस प्रकार की सन्धियाँ होती हैं।

इस पर वर्णों का जो मिलान है उसी का नाम संहिता या सन्धि है। वही संहिता-दृष्टि जब लोक में व्यवहृत होती है- व्यापक रूप धारण करके लोक को अपना विषय बनाती है उसी का नाम महासंहिता है। व्याकरण मे सन्धि पाँच प्रकार की होती है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार, इसीलिये व्याकरण मे पञ्चसंधि प्रसिद्ध हैं। ये ही पाँच सन्धि के आश्रय हैं। लोक मे जो पंच महासंधि या महासंहिता हैं उनके भी पाँच आश्रय हैं। उनके नाम:-१. लोक, २. ज्योति, ३. विद्या, ४. प्रजा और ५. आत्मा (शरीर)। व्याकरण की सन्धि मे चार भाग होते हैं- १. एक तो पूर्व वर्ण शब्द, २. दूसरा पर वर्ण शब्द, ३. तीसरा दोनों के मिलने पर बना रूप तथा-चौथा दोनों किस नियम से मिलते हैं इसका संयोजक नियम। इसी प्रकार लोक मे भी १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. सन्धि और ४. सन्धान हैं। इतना समझ लेने पर जो १. अधिलोक, २. अधिज्यौतिप, ३. अधिविद्या, ४. अधि प्रजा और ५. अध्यात्म्य इसके समझने मे सुविधा होगी।

शौनकजी ने कहा—"हाँ तो सूतजी! तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्बन्ध मे सुना, शाति पाठ भी सुना, प्रथम अनुवाक में भी वही बात है। अब द्वितीय अनुवाक मे क्या है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन! द्वितीय अनुवाक मे शिक्षा है, जिसे ऋषि ने शीक्षा कहा है। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान इनकी शुद्धि पर बल दिया है अर्थात् स्वर और व्यजन दोनों वर्णों का यथावत् शुद्ध उच्चारण हो, जैसा जहाँ स्वर उपयुक्त हो उस शुद्ध स्वर में

बोला जाय, किस वर्ण पर कितना बल दिया जाय उसका ज्ञान करके वर्ण का उच्चारण हो, साम के नियमों के अनुसार उच्चारण हो, सन्तान अर्थात् सन्धि के ज्ञानपूर्वक उच्चारण हो। यही द्वितीय अनुवाक में उच्चारण की शिक्षा का संक्षिप्त विवरण है।"

शौनकजी ने पूछा—"तृतीय अनुवाक में क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"तृतीय अनुवाक में-श्रोता-वक्ताओं के यश और ब्रह्मतेज बढ़ाने की कामना की गयी है और अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्या, अधिप्रजा और अध्यात्म शरीर के विषय में इन पाँच अधिकरणों, संहिता के वर्णन की प्रतिज्ञा करके इसे महासंहिता नाम दिया गया है। इसमें सर्वप्रथम अधिलोक का वर्णन है।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिलोक का वर्णन कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"प्रत्येक संहिता में चार बातें होती हैं, १. पूर्वरूप, २. उत्तररूप, ३. संधि और चौथा—संधान है। जैसे हरि+अश्व शब्द है। इसमें रकार में जो इकार है वह तो पूर्वरूप है, अश्व वाला अकार उत्तररूप है। इकार को यकार हो गया यह संधि है अब इन दोनों का संयोजन करने वाला जो संयोजक नियम है जिससे हर्यश्व सिद्ध हुआ है वही संधान है। इसी प्रकार इन पाँचों संहिताओं में यही बात लोक में समझ लेनी चाहिये। व्याकरण में तो शब्दों में सन्धि होती है। यहाँ लोक में इन सब पदार्थों से सन्धि होकर जगत् कार्य सम्बन्ध होता है। तृतीय अनुवाक में लोक सम्बन्धी उपासना कैसे करनी चाहिये इसी का वर्णन है। सम्पूर्ण लोकों के अभिमानी देवताओं की जो उपासना है—उनका कैसे ध्यान करना चाहिये—उसका जो वर्णन है—उस उपासना का नाम अधिलोक उपासना है। यह अधिलोक उपासना महासंहिता का प्रथम अवयव है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक में कौन पूर्वरूप है, कौन उत्तर-रूप, सन्धि तथा सधान है ?"

सूतजी ने कहा—"अधिलोक मे पृथ्वी तो पूर्वरूप है। ऊपर के स्वर्गादि लोक उत्तररूप हैं। इन दोनों की सन्धि आकाश है और वायु इनका सन्धान है अर्थात् सयोजक है। जिससे यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सिद्ध होता है। इसी रूप मे इस अधिलोक की उपासना करनी चाहिये। ध्यान धरना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"महासहिता का द्वितीय अवयव कोन सा है ?"

सूतजी ने कहा—"दूसरी सहिता है अधिज्यौतिप।"

शौनकजी ने पूछा—"अधिज्यौतिप का भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"सूर्य, चन्द्र आदि जो ज्योतिमण्डल हैं, उनके अभिमानी देवताओं की उपासना कैसे करनी चाहिये इनके पूर्वरूप, उत्तररूप, सन्धि और सन्धान का परिचय करना यही अधिज्यौतिप सहिता है।"

शौनकजी कहा—"तो हाँ बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ज्योति सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल और विद्युत में रहती है। दिन में सूर्य प्रकाश करते हैं, रात्रि मे वे अपने तेज को जल मे छोड़ जाते हैं। इसलिये कैसा भी अन्धकार हो जल के सहारे-सहारे चले जाओ तो तुम्हे प्रकाश प्राप्त होगा। दिन में भी अग्नि चन्द्र में विद्युत में प्रकाश होता है, किन्तु वह सूर्य के कारण फीका रहता है। रात्रि मे चन्द्र, अग्नि, विद्युत तथा जल में विशेष प्रकाश रहता है। विद्युत-बिजली-प्रकाश का कारण है। अतः अग्नि तो पृथ्वी पर परम सुलभ है, सर्व-व्यापक है, जहाँ चाहो उसे युक्ति से प्रकट कर लो। अतः इस दूसरी ज्यौतिप सहिता का अग्नि पूर्वरूप है, सूर्य उत्तररूप है।

जल-मेघ-इन दोनों की सन्धि है और विद्युत-बिजली-इन सबका सन्धान (जोड़ने का हेतु) है। सूर्य और अग्नि अपना तेज जल को देते हैं। तेज से-अग्नि से-ही जल की उत्पत्ति है। इसलिये जल अपने पिता-अग्नि-के तेज का उत्तराधिकारी है और जल में ही विद्युत की उत्पत्ति होती है। अतः विद्युत को सूर्य, अग्नि तथा जल तीनों की सामर्थ्य प्राप्त है। विद्युत में सभी प्रकार के भौतिक विकास सम्भव हैं।"

शौनकजी ने कहा - "सूतजी! आपने अधिलोक, अधिज्यौतिष संहिताओं का तो वर्णन कर दिया-अब तीसरी अधिविद्या संहिता का वर्णन और कीजिये।"

सूतजी ने कहा — भगवन! विद्या, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा से आती है। आचार्य जब प्रवचन करता है, उसी को अन्तेवासी-विद्यार्थी हृदयंगम करता है। अतः अधि विद्या का पूर्वरूप तो आचार्य है, उत्तररूप अन्तेवासी-समीप में रहकर अध्ययन करने वाला शिष्य विद्यार्थी है। दोनों की सन्धि कराने वाली सन्धि विद्या है और उस सन्धि का हेतु-मुख्य कारण-सन्धान है, प्रवचन। यही विद्या विषयिणी तीसरी संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—सूतजी! आपने पहिली संहिता अधिलोक बतायी, दूसरी अधिज्यौतिष, तीसरी अधिविद्या अब आप चौथी संहिता अधिप्रजा का वर्णन और कीजिये।

सूतजी ने कहा—"भगवन्! प्रजा कहते हैं सन्तान को। सन्तान होती है माता-पिता के संयोग द्वारा, अतः माता इसका पूर्वरूप है, पिता उत्तररूप है, दोनों की सन्धि से उत्पन्न प्रजा सन्धि है और संयोगरूप प्रजनन क्रिया-सन्तानोत्पत्ति का हेतु कर्म-सन्धान है। यही चौथी अधिप्रजा संहिता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने अधिलोक अधिज्यौष,

अधिविद्या और अधि प्रजायें चार संहिता ये तो बता दीं। अब पाँचवीं अध्यात्म संहिता के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी बोले—"भगवन्! आत्मा शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। आत्मा शरीर को भी कहते हैं और इसका व्यवहार इन्द्रिय, अन्तःकरण, जीव तथा परमात्मा के लिये भी होता है। यहाँ आत्मा शब्द से शरीर का ही अभिप्राय है। शरीर में मुख्य अंग मुख ही है। मुख न हो समस्त शरीर व्यर्थ है शरीर का मुख्य भाग्य होने से ही यह मुख कहलाता है। मुख में प्रधानतया ऊपर नीचे का जबड़ा वाणी और जिह्वा ये ही मुख्य उपाङ्ग हैं। अतः अध्यात्म संहिता में नीचे का ओष्ठ जबड़ा यह तो पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा उत्तररूप है। दोनों के मिलने पर सिद्ध होने वाली वाणी ही सन्धि है और इन दोनों के मिलने से उत्पन्न होने वाली वाणी का हेतु-कारण-जिह्वा ही सधान है। यही अध्यात्म संहिता है। ये पाँचों संहिता मिलकर ही महासंहिता कहलाती हैं। ये ही जगत् का कारण हैं। इसी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये, ध्यान करना चाहिये। जो मनुष्य पीछे बतायी हुई रीति से इन महासंहिताओं को जान लेता है उसे इस लोक में किसी वस्तु की कमी नहीं रहती उसे सन्तानों की प्राप्ति होती हैं, सुन्दर सुन्दर पशुओं की प्राप्ति होती है, ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है तथा अन्न वस्त्रादि भोग्य सामग्रियों की प्राप्ति होती है तथा स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। यह मैंने आपसे पंचसंहिताओं महासंहिताओं का वर्णन किया। अब आप आगे क्या आज्ञा देते हैं?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें पुनः आप प्रणव द्वारा प्रभु की प्रार्थना करने का प्रकार बताने की कृपा करें।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के चतुर्थ

अनुवाक मे इसी का वर्णन है, इस प्रकरण को मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

अधिज्यौतिष को अग्नि पूर्वरूपहु रवि उत्तर।
नीर संधि संधान कही बिजुरी अति सुन्दर॥
अधिविद्या को पूर्वरूप आचारज जानो।
उत्तररूप सुछात्र सन्धि विद्या पहिचानो॥
सधानहु प्रवचन कह्यो, अधिप्रज सुनि जो वेद मुख।
मातु पूर्व उत्तर पिता, सन्धि प्रजा सधान सुख॥

अब मुनिवर ! अध्यात्म संहिता सुखद सुनाऊँ।
आत्मा तनु के अर्थ आत्म अधि भेद बताऊँ॥
तन में मुख ही मुख्य अधर हनु पूर्वरूप मुनि।
उत्तर हनू ही अपर, सन्धि वच जिह्वा कारन॥
महासंहिता पाँच जे, जाने सो सब पाइगो।
महातेज, पशु, अन्न, धन, अन्त स्वरगमहँ जाइगो॥

[५८]

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥❀

(तै० उ० ४ अनु०)

छप्पय

प्रणवरूप हे इन्द्र ! वेद में ऋषभ बताये।
विश्वरूप हो अमृत वेद में प्रथम कहाये॥
मम मेधायत करो अमृतमय प्रभु कूँ धारूँ।
देह पूर्तियत होइ जीभ वच सरस उचारूँ॥
दोउ काननि तैं अधिक, श्रवन करूँ भगवत चरित।
प्रभुनिधि धी लौकिक ढकी, मम श्रुत रच्छो करहु हित॥

❀ जो छन्दो (वेदो) मे सर्वोत्तम हैं, विश्वरूप तथा अमृत रूप हैं। जो वेदो मे प्रधानता से प्रकट हुए हैं। वे प्रणवरूप इन्द्र मुझे मेधा युक्त बना दें। हे देव ! मैं अमृत धारण करूँ, मेरी वाणी अत्यन्त मधुमती—मीठा बोलने वाली हो। दोनो कानो से (भगवत् कथा) अधिक सुनूँ। मुझे ब्रह्म के कोश रूप ढकी हुई मेधा को स्पष्ट करके प्रदान करें मैं जो भी सुनूँ उसे धारण करने की शक्ति प्रदान करें। श्रुतज्ञान की रक्षा करें।

प्राचीन काल में आस्तिक पुरुष, भगवान के अनेक रूपों पर आस्था रखते थे। वे प्रत्येक कार्य के लिये प्रभु से ही प्रार्थना करते थे, वह कार्य चाहे इहलौकिक हो, अथवा पारलौकिक हो। उनका एकमात्र आश्रय भगवत् प्रार्थना ही हुआ करती थी। संसार बन्धन से कैसे छूटें यही एक मुख्य विषय था। विद्या उसी को कहते थे जो हमें मुक्ति का मार्ग दिखा सके। अपवर्ग का पथ बता सके।

प्राचीनकाल में साक्षरता को विद्या नहीं कहते थे। जैसे चित्र बनाना, भवन बनाना, मूर्ति बनाना, कलायें हैं, वैसे ही पुस्तकों को लिखना, बाँचना एक कला मानी जाती थी। प्राचीनकाल में लोग बहुत ही कम लिखते पढते थे। पत्रादि भेजने का प्रचलन नहीं था सब बातें दूतों द्वारा सम्वाद के रूप में भेजी जाती थीं। पुस्तकें पढने का भी प्रचलन नहीं था। लोग विद्वान् ब्राह्मणों से राय, भाट, सूत, मागधों तथा इतिहास सुनाने वालों से सुना करते थे। उन दिनों श्रवण ही मुख्य माना जाता था।

सबको अक्षर ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं था। सब पढ़ने जायँ यह भी अनिवार्य नहीं था। वेतन भोगी अध्यापक या तो होते ही नहीं थे, जो होते भी थे, वे हेय दृष्टि से देखे जाते थे। अक्षर ज्ञान को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। विद्या परम्परागत थी और वह एक दूसरे से श्रवण करके–सुनकर–ही धारण की जाती थी। उन दिनों सदाचार शुचिता यम, नियमादि पालन पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था। ज्ञाननिष्ठ श्रोत्रिय आचार्य अपने स्थान पर ही छात्रों को विद्यादान देते थे। आचार्य के ज्ञान की, सदाचार तथा तप स्वाध्याय की ख्याति सुनकर दूर-दूर से छात्रगण उनके समीप विद्याध्ययन के लिये आते थे। आचार्य उनसे किसी प्रकार का शुल्क नहीं लेते थे। घर से

भोजन मँगाने को भी नहीं कहते थे। ऐसा सभव ही नहीं था। सभी द्विजों के-विशेषकर ब्राह्मणों के प्रज्ञावान् छात्र गुरुकुलों में पढने जाते थे। उनके आस-पास अग्निहोत्री द्विजगण रहते थे। उनके लिये यज्ञ की ही भाँति अतिथि पूजन, नृयज्ञ आवश्यक होता था। जब तक भिक्षोपजीवी-जिनकी आजीविका एक मात्र भिक्षा ही है, उनको भिक्षा नहीं दे लेते तब तक वे स्वय भोजन ही नहीं करते थे। ब्रह्मचारी और सन्यासी ये दो भिक्षोपजीवी हैं। यद्यपि वानप्रस्थी भी भिक्षोपजीवी ही है, किन्तु वह गृहस्थियो से भिक्षा न माँगकर वन के वृक्षों से ही भिक्षा माँगता था। ग्राम में नगर में-वह भिक्षा के हेतु प्रायः नहीं आता था। गृहस्थी लोग ब्रह्मचारियों को भिक्षा वडे आदर, सत्कार और प्यार से देते थे। शास्त्रो म विद्याध्ययन करने वाल ब्रह्मचारियों को भिक्षा देने की वडा प्रशसा ह, उसका अनन्त माहात्म्य है। जिसकी भिक्षा ब्रह्मचारी के उदर मे जाकर जीर्ण हो, उसी भिक्षा के सहारे जो विद्यार्थी अध्ययन करे। ऐसे भिक्षादाता को अनन्त पुण्य होता है। वह अपने १० पीछे के और १० आगे के कुलों का उद्धारक माना जाता था।

एक तो महान् पुण्य के लोभ से सद्गृहस्थ ब्रह्मचारियों को भिक्षा देते थे, दूसरे उनके भी वच्चे तो गुरुकुलों में गये हुए होते थे। वे भी किसी के द्वार पर भिक्षा माँग रहे होंगे। यदि उन्हे कोई भिक्षा न दे तो माता-पिता को कितना कष्ट होगा, अतः माता पिता घर पर आये हुए ब्रह्मचारियों को अपने पुत्र के ही समान मानते थे, ब्रह्मचारियों को देखते ही उन्हे अपने पुत्रों की स्मृति आ जाती। प्रत्येक घर से एक एक, दो दो रोटी ब्रह्मचारी को देना किसी को अखरता नहीं था। फिर वडे-वडे आचार्यों के दर्शनों को धनी मानी, सेठ साहूकार, राजा मह-

राजा आते ही रहते थे। वे आचार्य को भेंट चढ़ाते। वह भी सब विद्यार्थियों के ही काम आती। गुरुमातायें अपने यहाँ जितने भी ब्रह्मचारी रहते सबको पुत्रवत् मानती थीं। उनके सगे पुत्र ब्रह्मचारियों के साथ ही रहते, पढ़ते और भिक्षा माँगने जाते। गुरु और गुरुआनी अपने सगे बच्चों में और अन्य ब्रह्मचारियों में भेद भाव नहीं करते, जो वस्तु आती सब में समान भाव से बाँट दी जाती। एक-एक आचार्य के पास दश-दश सहस्र छात्र रहते। उन सबके भरण पोषण का उत्तरदायित्व आचार्य पर ही रहता। चाहे राजपुत्र हो या निर्धन पुत्र सब समान भाव से गुरुकुल में रहते। जिसके यहाँ कम से कम दश सहस्र छात्र न हों, वह कुलपति कहलाता ही नहीं था। जिसके पास जितने ही अधिक ब्रह्मचारी हों, वह उतना ही श्रेष्ठ आचार्य माना जाता था। इसलिये आचार्य-गण अपने यहाँ अधिक से अधिक ब्रह्मचारी आवें, इसके लिये प्रयत्न किया करते थे। वे उसके लिये विज्ञापन करते हों, या कोई आन्दोलन चालू करते हों, सो बात नहीं, उसके लिये वे प्रभु से प्रार्थना करते। अग्नि स्वरूप ब्रह्म से प्रार्थना करते हुए इस निमित्त अग्नि में हवन करते। उन दिनों आस्तिक पुरुष सब कामनायें भगवान् से ही प्रार्थनापूर्वक करते थे। शरीर स्वस्थ रखने को, बुद्धि, स्मृति, मेधा, धारणादि बढ़ाने को, ऐश्वर्य के लिये, लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिये अग्नि में हवन करते, प्रभु से प्रार्थना करते, यही प्राचीन वैदिक ऋषियों का सदाचार था।

सूतजी कहने लगे—"द्विजवर! आपने प्रणव की उपासना के सम्बन्ध में पूछा था। सो प्रणव रूप परमेश्वर से यही प्रार्थना करे। परमेश्वर और प्रणव में वही सम्बन्ध है जो खड्ग में और कोश (म्यान) में है। तलवार म्यान के भीतर रहती है तलवार दिखायी नहीं देती, म्यान ही दिखायी देती है। अतः म्यान को

अपनाने से तलवार अपने आप अपनी हो जायेगी। इसीलिये प्रणव से प्रार्थना करनी चाहिये—"हे विश्वरूप प्रणव ! आप वेदों मे सर्वश्रेष्ठ हैं। अर्थात् वेदो के जनक हैं। वेदों में से प्रणव को निकाल दो तो उनमें प्राण नहीं रहेगा। आप वेदों के प्राणस्वरूप हैं। आप विश्वरूप है, अमृत स्वरूप हैं, वेदो मे प्रधान रूप से आप ही गाये गये हैं। आप इन्द्र हैं अर्थात् सबके स्वामी हैं। मुझे मेधा से सम्पन्न करा दो। हे देव ! जो परमात्मा अमृतमय हैं उन्हें मैं धारण कर सकूँ ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करें। मेरी बुद्धि को, मेधा को, धारणा को विशुद्ध बना दें।"

बुद्धि के साथ ही साथ मुझे शारीरिक स्वास्थ्य भी प्रदान करें। मेरे शरीर में आलस्य न आने पावे। आलस्य ही शरीर-धारियों का परम शत्रु है। अतः मेरे शरीर मे सदा विशेष स्फूर्ति बनी रहे। मेरी जिह्वा कभी कडवे वचन असत्य वचन, कठोर वचन न बोले। मेरी वाणी मधु से भी अधिक मीठी–मधुमयी–सुमधुरभाषिणी हो। मेरे दोनो कान बहरे न हों, अन्त तक भली-भाँति सुनते रहे। भगवत् चरित्रों को ही सुनने वाले हों। हे प्रणव देव ! तुम लौकिक बुद्धि से ढके हुए ब्रह्म के कोश (म्यान) समान हो। मैंने गुरु द्वारा अब तक जो ज्ञान सुना है, जो उपदेश श्रवण किये हैं, उन उपदेशों की रक्षा करो। अर्थात् वे उपदेश मुझे भूलें नहीं।

इस प्रकार श्रेयस्कामी साधक ब्रह्मवाचक प्रणव की प्रार्थना करे। उससे बुद्धि की विशुद्धता के निमित्त विनम्र बनकर विनती करे।

शौनकजी ने पूछा—"जिन्हे ऐश्वर्य की कामना हो, वे भगवान की विनय कैसे करें ?"

सूतजी ने कहा—"विष्णु तो अनेक रूप रूपाय हैं। ऐश्वर्य

की अधिष्ठातृ देवी तो उनकी अर्धाङ्गिनी श्री देवी—लक्ष्मी देवी है। ये बिल्व के वृक्ष में रहती हैं, गौ के सूखे गोबर करीप में वास करती हैं। ऐश्वर्य की कामना वाले को बिल्व की समिधाओं से, बिल्व के फल और घृत के साथ श्री देवी के नाम से (आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासा ॅमि मम गावश्च। अन्न-पाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा इस मन्त्र से) आहुति दे। और प्रार्थना करे—"हे लक्ष्मी देवीजी! आप समस्त ऐश्वर्य की स्वामिनी हैं, मेरे लिये शीघ्र ही पहिनने को वस्त्र, दूध पीने को दुधारी गौ तथा भोजन को सुन्दर अन्न-पान सर्वदा प्रदान करती रहो। आप सब कुछ देने वाली हैं। उनका विस्तार करने वाली हैं, थोड़े को बढ़ा देने वाली हैं, जो नहीं हैं उनका निर्माण करने वाली हैं। सूती वस्त्र दो और ऊनी वस्त्रों के लिये रोएँ वाले पशु भेड़ बकरी भी दे देना। आप के भन्डार में सब कुछ पड़ा है, उस सर्ववस्तुयुक्त भंडारे के साथ मैं आपका आवाहन करता हूँ। आप समस्त श्री को मेरे निमित्त प्राप्त कराओ। इसी कामना से यह आहुति आपके निमित्त प्रदान करता हूँ।" इस प्रकार ऐश्वर्य की कामना वाला—सकामी पुरुष—श्री देवी के निमित्त हवन करे उनसे अखंड ऐश्वर्य की प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यह तो आपने ऐश्वर्य की कामना वालों के निमित्त हवन और प्रार्थना का प्रकार बताया। अब ज्ञानदाता आचार्य कैसे हवन और प्रार्थना करे?"

सूतजी बोले—"भगवन्! आचार्यों की एकमात्र कामना यही होती है, कि मेरे पास मेधावी, उत्तम धारणा वाले, प्रज्ञावान विद्यार्थी ब्रह्मचारी आवें, अतः वे इन मन्त्रों से—(आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु

ब्रह्मचारिणः स्वाहा) अग्नि मे हवन करें और प्रार्थना करे—"हे प्रभो ! मेरे पास बहुत से ब्रह्मचारी आवें। जो ब्रह्मचारी आवें व सबके सब कपट शून्य-निष्कपट हो। व सब ब्रह्मचारी प्रामाणिक ज्ञान को ग्रहण करने वाले हों। वे सबके सब इन्द्रियों का दमन करने वाले हो। वे ब्रह्मचारी मन को वश मे करने वाले—शम, दम गुणों से सम्पन्न हो।'

फिर अपने निमित्त इन मन्त्रों से (यशोजनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। त त्वाभग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्र शाखे नि भगाह त्वयि मृजे स्वाहा) हवन करे। और प्रार्थना करे—"मैं आचार्यों मे यशस्वी होऊँ। जगत् मे जो महान् धनवान हैं, दान, धर्मादि के कारण जगत् मे उनका यश फैलता है, मेरा यश उनसे भी अधिक फले। मैं जगत् मे सबसे बडा यशस्वी धनी होऊँ। हे भगवन् ! आप समस्त ऐश्वर्य, समस्त वीर्य, समस्त यश, समस्त श्री, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्य के निधान हो। ऐसे आपमे मैं प्रविष्ट हो जाऊँ। हे भगवन् ! मैं आपमें प्रविष्ट हो जाऊँ आप मुझमे प्रविष्ट हो जायें। हे भगवन् ! आपकी सहस्र शाखायें हैं, अनन्त शाखायें हैं, ऐसे सहस्र शाखा वाले आप मे गोता लगाकर-आप में निमग्न होकर—मे अपने को परम पावन-विशुद्ध-बना लूँ।

यह सब कब होगा, जब प्रज्ञावान् बहुत से ब्रह्मचारी ज्ञानार्जन के निमित्त मेरे समीप आवेंगे। इसलिये इन मन्त्रों से (यथाऽऽपः प्रवता यान्ति यथा मासा अहर्जरम्। एव मा ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व) हवन करे और प्रार्थना करे—'हे भगवन् ! जिस प्रकार पानी नीची भूमि से समुद्र मे जाता है। जैसे महीना दिनों का अन्त करने वाले सम्वत्सर मे जाकर मिल जाते हैं, वसे ही हे विधाता !

मेरे पास भी चारों ओर से ब्रह्मचारीगण आवें, आप ही सबके एकमात्र विश्राम हैं। मेरे सम्मुख अपने को प्रकाशित करो। मुझे दर्शन दो। मुझे अपने में मिला लो। आप मुझे प्राप्त हो जाइये।"

इस प्रकार आचार्य हवन करके प्रभु से प्रार्थना करें।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! व्याहृतियों को प्रयुक्त करके आचार्यगण उपासना करना बताते हैं, उसका प्रकार क्या है? कृपा करके इसे हमें बताइये।"

सूतजी ने कहा—भगवन्! तैत्तिरीयउपनिषद् के पञ्चम अनुवाक में इसी विषय का वर्णन है, उसे मैं आप से आगे कहूँगा।"

छप्पय

हे लक्ष्मी! मम हेतु अन्न, पट, गो-धन लाओ।
लोमयुक्त अज भेड़ सुखद सामान दिवाओ॥
कहें—अचारज आइँ ब्रह्मचारी मेरे ढिँग।
ज्ञान महन निष्कपट वशी मन शम दम धारक॥
जल बहि नीचे नीरनिधि, जावें संवत् मास जिमि।
हे धाता! मम प्राप्त हों, आइँ ब्रह्मचारी हु तिमि॥

इति तैत्तिरीयउपनिषद् का चतुर्थ अनुवाक

—०—

व्याहृतियों द्वारा उपासना का रहस्य

[५६]

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका । महीयन्ते ॥*

(तै० उ० ५ अनु०)

छप्पय

व्याहृति द्वारा ब्रह्म उपासन अब बतलावें ।
भू भुव सुव तैं श्रेष्ठ चतुर्थी मह जतलावें ॥
वही आतमा ब्रह्म देवता अङ्ग कहावें ।
पृथिवी भू भुव अन्त-रिक्ष स्वः स्वर्ग जतावें ॥
महः आदित्य हिताहि तैं, महिमान्वित सब लोक हैं ।
भू अगिनी भुव वायु है, सुव सूर्य मह चन्द्र हैं ॥

---

* भू, भुव और स्व ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं, उनमे चौथी जो मह है उसे महाचमस्य ऋषि ने सर्वप्रथम जाना था, यही चौथी व्याहृति ब्रह्म है। वह सबकी आत्मा है। अन्य देवता सभी उसके अंग हैं। भू यह पृथ्वी लोक है, भुव अन्तरिक्ष लोक है, स्व यह स्वर्गलोक है, मह यह आदित्य लोक है यही स्वर्गलोक हैं। यह जो है वह आदित्य है। आदित्य से समस्त लोक महिमान्वित हैं।

सात नीचे के और सात ऊपर के ऐसे चौदह लोक हैं। नीचे के सात लोक भू विवर कहलाते हैं, अर्थात् पृथ्वी के छिद्र। इसलिये नीचे के सात लोकों की गणना पृथ्वी के ही अन्तर्गत की जाती है। इस प्रकार भू आदि सात लोक ही हैं। तीन प्रजावन्त पुनरावृत्ति लोक कहाते है, तीन अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। एक महर्लोक मध्यवर्ती लोक है जो प्रजावन्त अप्रजावन्त दोनों है और पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्ति है।

बन्धन का कारण जन्म है,जन्म होता है मिथुन होने से। अतः मिथुन धर्मी जीव भू भुव और स्वर्ग इन्हीं तीनों लोको में आते जातेरहते थे। बार-बार जन्म लेते हैं, बार-बार मरते हैं। इसीलिये य भू लोक, भुव लोक और स्वर्ग लोक तीनों ही पुनरावृत्ति लोक कहाते हैं। जो मैथुनधर्मी हैं वे इन्हीं लोकों मे विचरते रहते हैं। स्वर्ग कामना से पृथ्वी पर यज्ञ, दान, तपस्या करो, स्वर्ग की प्राप्ति होगी और पुण्य क्षीण होने पर पुनः पृथ्वी पर ही जन्म होगा। इनमें आने जाने वालों की कभी मुक्ति नहीं होती।

महर्लोक ऐसा लोक है, जहाँ जाकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। यद्यपि इस लोक मे भी मिथुन धर्मी ही जाते हैं, किन्तु वे ऐसे तपःपूत महर्षिगण होते हैं, कि किसी कारण विशेष से उनका जन्म भले ही हो जाय, नहीं तो वे प्रायः मुक्ति मार्ग के ही गामी होते हैं, इसलिये कि वे जो दार ग्रहण करते हैं, भोग के निमित्त नहीं करते, वे ब्रह्माजी की भाँति प्रजापति माने जाते हैं। तप, स्वाध्याय, संयम की साक्षात् प्रतिकृति होते हैं। ब्रह्माजी के एक दिन में जो कल्प प्रलय होती है, उसमे भू, भुव और स्व ये तीन ही लोक नष्ट होते हैं, प्रलय की अग्नि तीनों लोकों को जला देती है, स्वर्ग को जलाते समय उसकी लपटें महर्लोक तक

पहुँच जाती हैं, उस समय महर्लोक निवासी महर्षिगण महर्लोक को छोड़कर जनलोक मे चले जाते हैं। इसलिये कल्प प्रलय के समय महर्लोक जलता तो नहीं किन्तु वह खाली हो जाता है। जन, तप और सत्य ये अप्रजावन्त अपुनरावृत्ति लोक हैं। इनमें ब्रह्मदेव को छोड़कर प्रजावन्त पुरुष वास नहीं करते। जन लोक में तो ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी गण ही रहते हैं जिन्होंने जीवन पर्यन्त कभी स्त्री का स्पर्श नहीं किया-दार ग्रहण नहीं किया। तपलोक में ऐसे तपस्वी वानप्रस्थी रहते हैं, जिनका समस्त जीवन ही तपमय है। ब्रह्मलोक मे सर्वस्व त्यागी, विरागी, संन्यासी, ज्ञानी रहते हैं। इन तीनों लोकों मे गये पुरुष प्रायः पुनः जन्म ग्रहण नहीं करते क्योंकि ये तीनों अपुनरावृत्ति लोक हैं। प्रायः इसलिये कहा, कि बहुत महान् पुण्य कर्म करने वाले अपने अद्भुत अलौकिक पुण्य कर्मों से ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं, उन्हें पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म लेना पड़ता है, किन्तु जिन्होंने केवल पुण्य कर्मों ही द्वारा नहीं-ज्ञान द्वारा, विवेक विचार वैराग्य द्वारा इन लोकों को प्राप्त किया है, और ज्ञान की कुछ न्यूनता रहने के कारण उन्हें जन, तप या सत्य लोक की प्राप्ति हुई है, उनकी न्यूनता को ब्रह्माजी मेंटकर महाप्रलय के समय उन्हें अपने में लीन करके मुक्त बना लेते हैं। अतः स्वर्गलोक तक की उपासना तो प्रसिद्ध ही थी। महर्लोक की उपासना का प्रचार महाचमस के पुत्र माहाचमस्य मुनि ने किया। अतः यह ब्रह्मोपासना ही है। ब्रह्म प्राप्ति का द्वार ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह संसार त्रित पर है। तीन वेद, तीन लोक, तीन देव, तीन प्राण और तीन व्याहृतियाँ ये त्रिगुणात्मक हैं। इनका उपासक तीनों लोकों में ही विचरण करता है। जो तीन से चौथी व्याहृति महः में प्रवेश कर जाता

है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। यही व्याहृतियों की उपासना का प्रकार है।

शौनकजी ने कहा—"तीनों व्याहृतियों द्वारा उपासना का प्रकार स्पष्ट रूप से समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"देखिये महाराज! भू, भुव और स्वं ये तीन व्याहृतियाँ हैं। स्व व्याहृति को उपनिषद् में सुवः कहा गया है। अतः स्व के स्थान मे हम भी उसे सुव ही कहेंगे। हाँ तो भू भुंवः स्वः ये तीन व्याहृतियाँ प्रसिद्ध ही है। इन तीनो की अपेक्षा जो सर्वश्रेष्ठ व्याहृति है वह मह इस नाम से प्रसिद्ध हैं इसे महाचमस्य मुनि ने सर्वप्रथम जाना था।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी 'जाना था' इस कहने का तात्पर्य तो यह है, कि यह पहिले से रही होगी। जब यह पहिले थी ही तो व्यर्थ मे महाचमस्य मुनि के नाम लेने की क्या आवश्यकता थी?"

सूतजी ने हँसकर कहा—"मुनिवर! आप भी ऐसी बात कहेंगे क्या? भगवन्! ज्ञान तो सब सनातन ही हैं। वेद के मंत्र भी सब सनातन हैं, पहिले ही से विद्यमान हैं। जिस महर्षि ने जिस मंत्र का सर्वप्रथम साक्षात्कार किया—उसे जाना—वह ऋषि ही उस मंत्र का ऋषि माना जाने लगा। मंत्र में चार बातें जाननी आवश्यक होती हैं। यह मंत्र किस छंद में है, इसका कौन देवता है, कौन ऋषि है और यह मंत्र किस कार्य मे विनियोग किया जाता है अर्थात् इसका व्यवहार यज्ञ के किस कर्म मे होता है। छंद, देवता, ऋषि और विनियोग जानकर ही मंत्र का उच्चारण करना प्रशस्त माना जाता है। ऋषि का नाम न भी लो, तो मंत्र तो फल देगा ही क्योंकि मंत्र सनातन है। किन्तु ऋषियों का नाम पूजार्थ लेना ही चाहिये। ऋषियों की पूजा प्रतिष्ठा करना—

स्मरण करना यह भी उपासना का एक अङ्ग ही है। इसीलिये महामामस्य ऋषि का नाम लिया क्योंकि लोक मे सर्वप्रथम इन्होंने ही इसका साक्षात्कार किया।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपका कहना यथार्थ है यदि हम मन्त्रो के साथ ऋषियो का नाम न लें, तो परम्परा ही छिन्न-भिन्न हो जायगी। हॉ तो आगे सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हॉ, भगवन्! यह जो चौथी व्याहृति 'मह' है वही ब्रह्म है, यह तीनो व्याहृतियों की आत्मा है। अन्य देवता सब इसके अग हैं यह सबकी अगीभूत है। भू व्याहृति पृथ्वी-लोक की सूचक है। भुव व्याहृति अन्तरिक्ष लोक की सूचक है। स्व या सुव व्याहृति स्वर्ग लोक की सूचक है। मह जो चौथी व्याहृति है यह आदित्य लोक सूर्यनारायण लोक की सूचक है। क्योंकि आदित्य के द्वारा ही समस्त लोक प्रकाशित होते है, महि-मान्वित होते हैं। अतः सूर्यनारायण ही समस्त लोकों के प्रकाशक हैं, पूज्य हैं, ज्येष्ठ है, सर्वश्रेष्ठ हैं। यह तो मैंने लोकों की बात बताई अब आप देवों के प्रतीक की बात सुनिये।"

भू जो व्याहृति है यह अग्निदेव का प्रतीक है। भुव व्याहृति वायुदेव का प्रतीक है। स्वः या सुव आदित्यदेव का प्रतीक है और चौथी व्याहृति मह चन्द्रमा का प्रतीक है। चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियॉ निकलती हैं, उन्हीं की महिमा से सब महिमान्वित होती हैं। भू अग्निदेव वाणी के अधिष्ठातृदेव हैं, भावो के व्यक्त करने वाली वाणी है वह भी ज्योति है। स्व वायुदेवता त्वचा के अधि-ष्ठातृदेव हैं, त्वक् इन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करती है, यह भी ज्योति है। स्वः सूर्यदेवता चक्षु इन्द्रिय के अधिष्ठातृदेव हैं। यह भी ज्योति है। मह चन्द्र है, चन्द्रमा मन के अधिष्ठातृदेव हैं। समस्त इन्द्रियों में मन ही मुख्य है। बन्ध और मोक्ष का कारण

मन ही है। मन के द्वारा ही इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित तथा महिमान्वित होती है। यही मन रूप ब्रह्म की देवरूप से उपासना की विधि है।

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आपने लोक, देव, वेद और प्राण चार प्रतीकों द्वारा उपासना का उल्लेख किया था। अब तक आपने लोक और देव की प्रतीकात्मक उपासनायें बतायीं। अब वेद प्रतीकात्मक उपासना और बताइये।"

सूतजी बोले - "भगवन! इसी प्रकार क्रम से वेदों को भी समझ लें। जैसे भू व्याहृति ऋग्वेद का प्रतीक है, भुव व्याहृति सामवेद का प्रतीक है स्व या सुव व्याहृति यजुर्वेद का प्रतीक है, चौथी मह व्याहृति वेदातीत साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का प्रतीक है। परब्रह्म परमात्मा ही से समस्त वेद महिमावान् होते हैं। समस्त वेदों में परब्रह्म परमात्मा की ही अनेक रूपों में महिमा गायी गयी है।"

शौनकजी ने पूछा—"लोक, देव और वेद की प्रतीकात्मक उपासना तो बताई, अब प्राणों के सम्बन्ध में और बताइये।"

सूतजी ने कहा—"इसी प्रकार आप प्राणों के सम्बन्ध में भी समझ लें। भू जो व्याहृति है यह प्राण का प्रतीक है, भुव अपान का, स्व या सुव व्यान का और जो व्याहृति मह है वह अन्न का प्रतीक है। अन्न के द्वारा ही समस्त प्राण महिमा को प्राप्त होते हैं। अन्न न मिले तो प्राण निष्प्राण हो जाते हैं अतः अन्न ही ब्रह्म है। अन्न रूप में परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार भगवन् लोक, देव, वेद और प्राण ये चार हैं और चार व्याहृतियाँ, इस प्रकार एक एक के चार-चार भेद हैं। इसमें लोक में महर्लोक के रूप में, देव में चन्द्र के रूप में, वेद में ब्रह्म के रूप में और प्राण में अन्न के रूप में, ब्रह्म की मह व्याहृति के प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार जो चारों व्याहृतियों की

उपासना के भेद को भली-भाँति हृदयगम करके जान लेता है, समझ लेता है और इसी प्रकार से उनकी उपासना करता है, ध्यान करता है वही यथार्थ में ब्रह्म को जान लेता है। उसके लिये सभी देवता बलि समर्पित करते हैं अर्थात् वह समस्त देवताओं द्वारा पूजित होता है। सभी उसका स्वागत सत्कार और आदर करते हैं। यह मैंने व्याहृतियों द्वारा लोक, देव, वेद और प्राणों के प्रतीत द्वारा उपासना का प्रकार आपको बताया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"ब्रह्म की उपासना समीप से समीप प्रतीक द्वारा कैसे करनी चाहिये, इसी विषय को हम फिर से स्पष्ट रूप से सुनना चाहते हैं। अब तक आपने अङ्ग की उपासना बताई, अब अङ्गी ब्रह्म की उपासना का प्रकार फिर से बतावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्, तैत्तिरीय उपनिषद् के छठे अनुवाक में उपास्य का स्वरूप बताकर जैसे अङ्गी की उपासना का प्रकार बताया है उसे मैं आप से आगे कहूँगा। आशा है आप दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

भू ऋग भुव है साम सुवं हिं यजुवेद बखानो।
मह वेदनिमहँ ब्रह्म, ब्रह्म की महिमा मानो॥
भू व्याहृति ही प्राण अपान हु भुव कहलावै।
सुव व्याहृति है व्यान अन्न मह रूप लखावै॥
सूर्य, सोम, परब्रह्म, अरु, अन्न चारि ये ध्येय हैं।
चारि-चारि कूँ जानि जे, ते देवनि गुन गेय हैं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का पंचम अनुवाक

अङ्गी रूप में ब्रह्म की उपासना

[६०]

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ।
तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ॥*

(तै० उ ६ अनु०)

छप्पय

हृदय माहिँ आकाश मनोमय पुरुष विराजत ।
अमृत हिरण्मयदेव सुषुम्ना द्वार कहावत ॥
तालु मध्य जो काग कहें घाँटी ता भीतर ।
ब्रह्मरन्ध्र कचमूल निकसि हिय आवै ऊपर ॥
उभय कपालनि भेदि कें, इन्द्रयोनि सुषुमनि निकसि ।
भू भुव सुव मह अग्नि अरु, वायु सूर्य, ब्रह्महिँ प्रविसि ॥

गतियाँ तीन हैं, अधोगति, मध्यगति और ऊर्ध्वगति। इसलिये जब जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, तो नीचे के द्वार, मध्य के द्वार तथा ऊपर के द्वार कर्मानुसार इन तीनों ही द्वारों से निकलकर जाता है। अधःमार्ग से प्राण निकलेंगे, उनकी अधोगति होगी, मध्यम द्वार से प्राण निकलेंगे उनको मध्यगति

---

* वह परब्रह्म परमात्मा जो हिरण्मय है—प्रकाश स्वरूप है—अमृत है—अजर-अमर-अविनाशी है—मनोमय पुरुष है वह हृदय के भीतर जो आकाश है उसी में विराजमान रहता है।

मिलेगी और ऊपर के द्वार से प्राण निकलने वालों को अपुनरावृत्ति गति उर्ध्वगति मिलेगी। वे फिर लौटकर इस जगत् म नहा आवेगे। अध द्वार दो ही है मूत्र द्वार और मल द्वार। जिनके प्राण मूत्रेन्द्रिय द्वारा निकलते हे, उनका मृत्यु के समय बहुत-सा वीर्य तथा मूत्र निकल जाता है, प्राण उसी मार्ग से बाहर होते है। जिनके प्राण मल द्वार से निकलते हैं, उनका मल फट जाता है, बहुत स मल के साथ प्राण बाहर निकल जाते हैं। ऐस प्राणी नरकादि नीचे के लोको में जाते हैं। यही अधोगति हे।

मध्य द्वार सात हैं। दोनों आँखों के दो द्वार, दोनों कानो के दो द्वार, दोनों नासिकाओ के दो द्वार और एक द्वार मुख का। इस प्रकार सात द्वार हैं। इन मध्य के सात द्वारो से जिनके प्राण निकलेंगे, वे भू, भुवः और स्वर्ग इन्हीं लोकों मे जायेंगे। वे त्रिलोकी में ही घूमते रहेंगे, वे स्वर्गलोक से ऊपर के लोकों मे जा ही कैसे सकेंगे।

उर्ध्व द्वार एक है, उसे सुषुम्ना द्वार कहते हैं। वह कपाल मे होकर हे, छोटे बच्चो के सिर के बीच मे एक बहुत ही मुलायम स्थान होता है, हाथ रखने पर वह लुप-लुप करता हुआ प्रतीत होता हे। अवस्था बढने पर वह कडा हो जाता है। जहाँ से सिर के बाल निकलते हैं सिर मे दोनों कपालो के बीच मे जहाँ तालु के बीच म मास का काग लटकता रहता है उसके भीतर से सुषुम्ना नाडी उस ब्रह्मरन्ध्र के द्वार तक जाता हे, उसमे से यदि प्राण निकले। कपाल को फोडकर दशम द्वार से प्राण बाहर हो, तो उस पुरुष की पुनरावृत्ति नहा होती। या तो उसकी सद्य मुक्ति हो जाती हे,अथवा क्रममुक्ति होती हे। चाहे सद्य-मुक्ति हो अथवा क्रममुक्ति उसे पुनः देह धारण नहीं करना पडता। यही ऊर्ध्वगति हे। साधकों के समस्त प्रयत्न इसी के निमित्त होते हैं, कि हमारे

प्राणों का उत्क्रमण–निष्काम–दशम द्वार से हो, जो किसी विरले ही भाग्यशाली का होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पिछले पञ्चम अनुवाक में अङ्ग-भूत जो लोक, देव, वेद और प्राण हैं उनकी उपासना का प्रकार बताया। अब आगे जो साक्षात् अङ्गी हैं उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना की पद्धति बताते हैं। सर्वप्रथम बताना यह है, परमात्मा को खोजने कहीं बाहर या दूर नहीं जाना पड़ता वह तो हमारे अत्यन्त ही समीप भीतर ही हृदयरूपी गुहा में विराजमान हैं। उनकी उपासना करना कोई कठिन कार्य नहीं है।"

भूः, भुवः और स्वः तथा अन्य देवगण अङ्ग हैं और चौथी जो मह व्याहृति है जिसके अधिष्ठातृ हिरण्यगर्भ संज्ञक मनोमय ब्रह्म हैं वे अङ्गी हैं। ये रहते कहाँ हैं? यह जो हृदय के भीतर आकाश है उसमें यह अमृतमय, मनोमय, हिरण्य पुरुष रहता है। अतः हृदय कमल के मध्य में निवास करने वाले परब्रह्म की प्रतीक रूप में उपासना करनी चाहिये।

शौनकजी ने कहा—"हृदय कमल में स्थित उस मनोमय, अमृतमय पुरुष की उपासना कैसे करनी चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवान विष्णु की उपासना शालग्राम में की जाती है। शालग्राम विष्णु के प्रतीक हैं, इसी प्रकार हृदय कमल में एक अंगुष्ठमात्र आकाश है, उस आकाश में उपाधि से परिछिन्न की भाँति जो मनोमय आत्मस्वरूप परब्रह्म रहता है उसे भी अंगुष्ठमात्र पुरुष कहते हैं। वहीं जीवात्मा का निवास है, जीव वहाँ से ऊपर, नीचे, मध्य सभी द्वारों से जा सकता है। हृदय कमल के मध्य में जो हृदयाकाश है वहाँ से सुषुम्ना नाड़ी नीचे को तो मूलाधार तक जाती है, ऊपर को दोनों तालुओं के बीच में जो छोटी गौ के छोटे स्तन के समान एक मांस पिंड-

सा लटकता रहता है जिसे लोक में काग अथवा घाँटी कहकर पुकारते हैं उसके भीतर होकर सुषुम्ना नाडी ऊपर की ओर जाती है। जहाँ केशों का मूल स्थान है जहाँ दो कटोरों के सदृश दो कपाल हैं, उन दोनों कपालों को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। ब्रह्मरन्ध्र को ही इन्द्रयोनि कहते हैं। इन्द्र का अर्थ है सर्वसमर्थ परब्रह्म, योनि का अर्थ है द्वार। उसे दशम द्वार कहो, ब्रह्मरन्ध्र कहो, इन्द्रयोनि कहो एक ही बात है। वह द्वार सर्वसाधारण लोगों का बंद रहता है। जिन्होंने योगाभ्यास नहीं किया है, उनके प्राण उस द्वार से निकल ही नहीं सकते। जिन्होंने यम नियमों का दृढता के साथ पालन करके प्राणायाम का सविधि अभ्यास किया है, वे ही मृत्युकाल में उस द्वार का भेदन कर सकते हैं और उसी द्वार से प्राणों का परित्याग करते हैं। संयमी साधक अन्तकाल में दशम द्वार का भेदन करके उसके प्राण शरीर के बाहर निकलते हैं तो सर्वप्रथम तो वे भू व्याहृति के अधिष्ठातृ और अग्निदेव के लोक को जाते हैं, अर्थात् अग्निलोक में प्रतिष्ठित होते हैं। फिर भुव व्याहृति के अधिष्ठातृ वायुदेव में प्रतिष्ठित होते हैं, पृथ्वी से लेकर सूर्यलोक पर्यन्त व्याप्त वायुदेव हैं उनके अधिकार में जाता है। फिर स्व व्याहृति के अधिष्ठातृ सूर्यदेव हैं उनके लोक में जाता है, तदनन्तर महः नामक कहे हुए ब्रह्म में स्थिति हो जाती है, महत् पद को प्राप्त होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वह ब्रह्म कैसा है? उसके कुछ स्वरूप का तो वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वह ब्रह्म वर्णनातीत है। उसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता। फिर भी श्रुति ने उसे आकाश शरीर ब्रह्म कहा है। अर्थात् जिसका शरीर आकाश के सदृश

है। आकाश का कोई रूप, रंग, आकार-प्रकार नहीं। वैसा ही ब्रह्म का आकार-प्रकार रंग रहित स्वरूप है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म को प्राप्त उस पुरुष की स्थिति कैसी होती है ?"

सूतजी बोले—"महाराज ! कैसी स्थिति बताऊँ, गूँगे के गुड़ के समान है। गूँगा गुड़ खाकर उसके स्वाद का तो अनुभव करता है किन्तु उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता। ब्रह्म में स्थित पुरुष स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है, फिर उसे किसी के अधीन नहीं रहना पड़ता, वह सर्वस्वतन्त्र बन जाता है, अर्थात् वह मन के अधीन न रहकर मन ही उसके अधीन बन जाता है। वह वाणी का, चक्षुओं का तथा कर्णों का स्वामी हो जाता है, और तो क्या वह विज्ञान का–बुद्धि का–भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् इन्द्रियाँ, अन्तःकरण सभी उसके अधीन हो जाते हैं, वह सबका स्वामी हो जाता है। ब्रह्म का उपासक किसी के अधीन नहीं होता।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसा मानकर उस ब्रह्म की उपासना करें ?"

सूतजी ने कहा—"शौनकजी ! उपनिषद् के ऋषि ने प्राचीन योग्य नामक अपने शिष्य से कहा है—हे प्राचीन योग्य ! तू आकाश शरीर सदृश शरीर वाले ब्रह्म का, सत्तारूप सत्यात्म ब्रह्म का, इन्द्रिय प्राणादि सभी को विश्राम देने वाले प्राणाराम ब्रह्म का, मन आदि अन्तःकरण को आनन्द देने वाले मन आनन्द ब्रह्म का, शान्ति से सम्पन्न शान्ति समृद्ध ब्रह्म का, नित्य अमर अविनाशी ब्रह्म का ध्यान कर। उसी की उपासना कर। तेरा कल्याण हो जायगा।"

इस प्रकार अद्वी रूप परब्रह्म की यह उपासना है। उस

अमृत स्वरूप, मनोमय पुरुष हिरण्यगर्भ की पहिली व्याहृति भू उसके पैर हैं। दूसरी व्याहृति भुवः उसके हाथ हैं। तीसरी व्याहृति स्वः उसका सिर है और चौथी जो मह है वह हिरण्यगर्भ की आत्मा है। अर्थात् वह सर्वात्मा, सर्वव्यापक, परमानन्द स्वरूप, अमृतमय, परम पुरुष ही उपासना करने योग्य है।

शौनकजी ने कहा— "सूतजी! आकाश शरीर ब्रह्म की उपासना तो अत्यन्त सूक्ष्मतम है। अब साधारण बुद्धि वालों के लिये स्थूल उपासना बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में स्थूल पृथ्वी आदिकों की पाङ्क्त स्वरूप करके—पञ्चापाय-उपासना का वर्णन है। अब आगे मैं उसी का वर्णन करूँगा। इसमें प्रथम भाग में आधिभौतिक पदार्थों को लोक, ज्योति और स्थूल इन तीन पांक्तस्वरूप से अर्थात् तीन पंक्तियों में विभक्त करके उसका वर्णन किया गया है और द्वितीय भाग में शरीर स्थित प्राण, इन्द्रियाँ और धातु इन पदार्थों को तीन पंक्तियों में विभक्त करके वर्णन किया गया है। इन पाँचों पंक्तियों की पाङ्क्त संज्ञा है। उसे मैं आपसे आगे कहूँगा।"

छप्पय

ब्रह्मलोक लहि पाइ स्वराज्यहिँ मन को स्वामी।
वाक, चक्षु अरु कान होइ बुधि हू को स्वामी॥
ब्रह्मदेह आकाश सरिस सत्य स्वरूप है।
इन्द्रियादि जो प्रान सबनि विश्राम रूप है॥
मनहूँ आनंदित करत, शान्ति समृद्ध अमृत है।
तू प्राचीन सुयोग्य शिष, ताई मैं दै दिय है॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का षष्ठ अनुवाक

पृथ्वी आदि पञ्चक पंक्ति परिचय

[६१]

पृथिव्यन्तरिक्ष द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत मनो वाक् त्वक् । चर्म मा॑ँस॑ँ स्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरोचत् । पाङ्क्त वा इद॑ँ सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्त॑ँ स्पृणोतीति ।।*

(तै० उ० ७ अनु०)

छप्पय

अन्तरिक्ष, भू, स्वर्ग, दिशा उपदिशा पच ये।
लोक पच विख्यात कहूँ अब ज्योति पच जे ।।
अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र हु हैं।
जल, ओषधि, आकाश, वनस्पति आत्मा तन है ।।
स्थूल पक्ति अधिभूत ये, पक्ति कहैं अध्यात्म अब।
प्राण, अपान, उदान अरु, व्यान, समान जि प्रान सब ।।

---

* पृथ्वी, अन्तरिक्ष स्वर्ग, दिशायें, अवान्तर दिशायें ये पाच लोक पक्ति है । अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा नक्षत्र य ज्योति पक्ति हैं । जल,

यह सम्पूर्ण जगत प्रपञ्चात्मक है। पाँचों का विस्तार है। पंचमय जगत् है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों भूतों से ही निर्मित जगत् के ये सब पदार्थ हैं। इसीलिये इनकी प्रपञ्च संज्ञा है। सब पंचों ने ही मिलकर यह निर्णय दिया है जगत् परिवर्तनशील है। इसीलिये शिव, शक्ति, गणेश, सूर्य और विष्णु ये पंच देव ही पूजनीय तथा उपास्य हैं। स्मार्त लोग पंचदेवोपासक होते हैं। शरीर जिनके कारण टिका है वे प्राण भी पाँच ही हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं, तन्मात्रायें भी पाँच हैं। यह अविद्या भी तामिस्र, अन्धतामिस्र, तम, मोह और महामोह पंचपर्वा ही है। इसमें पाँच ही गाँठें हैं। शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और मधुर ये रस भी पाँच ही हैं। इस प्रकार यह पंचात्मक जगत् पंचपर्वा अविद्या से ही बँधा हुआ है और इससे छुटकारा भी पंचदेवों की कृपा से-पंचक ज्ञान से-सम्भव है, अतः ऋषियों ने पंचाग्नि तपादि साधनों से, ज्ञानयोग, कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, भक्तियोग तथा हठादि योगों से ही संसार की निवृत्ति बताई है। इसीलिये तैत्तिरीय उपनिषद् के सप्तम अनुवाक में पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना के विधान का वर्णन किया गया है, जो इस पञ्चात्मक उपासना के रहस्य को जान लेता है, वह पंक्तिपावन पावन बन जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! भगवान् अनेक रूपों वाले हैं,

ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश, और आत्मा (देह) ये स्थूल पंक्ति है, ये अधिभूत पंक्तियाँ है, अब अध्यात्म पंक्तियों को बताते हैं, प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान ये प्राण पंक्तियाँ है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा ये करण पंक्ति हैं, चर्म मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा ये धातु पंक्ति हैं। इसकी सम्यक् कल्पना करके ऋषि ने कहा। ये सब पांक्त हैं। पंक्ति से ही पांक्त को पूर्ण करता है। इति।

इसीलिये उन्होंने इस स्थूल जगत् को भी अनेक रूपों वाला बनाया है। वास्तव मे तो वे अरूप हैं, कर्तृत्व भाव से रहित हैं, फिर भी उपासना के निमित्त उनके अनेक रूप कल्पित किये जाते हैं और अनेक उपासनाओं की कल्पना की जाती है। आपने मुझसे साधारण अधिकारियो के निमित्त पञ्चात्मक स्वरूप करके उपासना का स्थूल पृथ्वी आदिकों की उपासना का प्रकार पूछा—उसे मैं वैदिक ऋषि के मतानुसार आपको बताता हूँ। देखिये भगवन्! पाँच-पाँच की एक पंक्ति होती है। उनमें ३ पंक्तियाँ आधिभौतिक हैं और तीन अध्यात्मिक। यहाँ आत्म शब्द से देह का ही तात्पर्य है, अर्थात् तीन पंक्ति तो लौकिक हैं और तीन शरीर सम्बन्धी शारीरिक। इस प्रकार ६ पंक्ति हैं। लोकपंक्ति, ज्योतिपंक्ति और देहपंक्ति ये तीन अधिभूत पंक्तियाँ हैं और प्राणपंक्ति, करणपंक्ति और धातुपंक्ति ये तीनो ही अध्यात्मपंक्ति हैं। ये छेऊ महापंक्ति कहलाती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"इस विषय को तनिक स्पष्ट करके समझाइये आपने जो (१) लोकपंक्ति (२) ज्योतिपंक्ति (३) आत्मपंक्ति (४) प्राणपंक्ति (५) करणपंक्ति और (६) धातुपंक्ति ६ पंचक या पंक्तियाँ बतायी हैं, इनमे से पहिले लोकपंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशायें और अवान्तर दिशायें ये पाँच लोकपंक्ति है। अर्थात् इन पाँचों के मिलने से ही लोक निर्मित हुए हैं। यह भी भगवान् का एक रूप है। भू देवी विष्णु भगवान् की पत्नी हैं। इस पृथ्वी देवी के समुद्र ही वस्त्र हैं, पर्वत ही इन मातेश्वरी के स्तन हैं। इन भगवती के सहस्रो नाम हैं। कहीं पर मधु कैटभ के भेद से निर्मित होने से इनका नाम मेदिनी बताया है, कहीं भगवान् विराट् के रोम

कूपों के मल से निर्मित इन्हें बताया है। सृष्टिकाल में ये प्रकट हो जाती हैं, प्रलयकाल में विलीन हो जाती हैं। सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड इन्हीं के अन्तर्गत है। चतुर्दश भुवनों में ये ही व्याप्त हैं। गोलोक, वैकुण्ठलोक को छोड़कर सभी इसी के अन्तर्गत हैं। इसके ही तीन विभाग हो गये हैं। जिस पर ग्राम, नगर, पर्वत, नद, नदी, सागर आदि हैं इसे पृथ्वी कहते हैं। जो पोल है, अवकाश है, जहाँ सूर्यचन्द्र हैं उसे अन्तरिक्ष कहते हैं। सुमेरु के शिखर से ऊपर जो दिव्यलोक हैं, उन्हें स्वर्ग कहते हैं। जिनमें सूर्य की किरणें छिटकती हैं, इधर-उधर प्रकाशित होती हैं उन्हें ऊपर नीचे, बायें दायें जानने को दिशा कहते हैं और उन दिशाओं के कोणों में जो हैं उन्हें उपदिशा या अवान्तरदिशा कहते हैं। वास्तव में यह लोकपंक्ति पृथ्वी का ही विस्तार मात्र है। भगवान् विष्णु ने ही पृथ्वी से रमण करने के अनन्तर उनकी पूजा की। ये भगवान की अर्धाङ्गिनी हैं अतः विष्णु पत्नी रूप में इनकी उपासना करनी चाहिये। अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा और उपदिशा इन्हीं के विस्तृत रूप हैं। यह स्थूल लोकपंक्ति उपासना है।"

शौनकजी ने पूछा—"ज्योतिपंक्ति क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, भगवन ! जब तक ज्योति न होगी, तब तक लोक प्रकाशित कैसे होंगे, ज्योति वायु के बिना प्रकाशित नहीं हो सकती। ज्योति चार में ही प्रकाशित होती। अग्नि में, सूर्य में, चन्द्रमा में और नक्षत्रों में।"

शौनकजी ने कहा—"जल में भी तो प्रकाश होता है ?"

सूतजी ने कहा— "जल में प्रकाश अपना नहीं होता। जल तो अग्नि का पुत्र है। जल को प्रकाश अग्नि से उत्तराधिकार में मिलता है। प्रकाश तो अग्नि, सूर्य, चन्द्र और ताराओं में ही होता है और वायु प्रकाशक है। अतः ज्योति के प्रचलन-स्थान अग्नि, वायु,

आदित्य, चन्द्र और नक्षत्र ही हैं। आकाश वायु के पश्चात् प्रत्यक्ष जन्म अग्नि का ही हुआ। आकाश और वायु ये दो इन चर्म चक्षुओं से प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते नहीं। अग्नि, जल और पृथ्वी ये तीन ही भूत दृष्टिगोचर हैं। इन तीनों में प्रथम जन्मा अग्नि ही है। वायु इनके जनक हैं। वास्तव मे तो परम प्रकाश स्वरूप परमात्मा ही है, उन्हीं से वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों को प्रकाश प्राप्त होता है। अतः इन पांचों को इन पंचात्मक स्थूल स्वरूप को ब्रह्म का ही रूप मानकर उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अब सूतजी! आत्मपंक्ति के विषय में भी समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्, मैं कई वार बता चुका हूँ। आत्मा शब्द बहुत अर्थों का द्योतक है। यहाँ आत्मा शब्द से अभिप्राय देह से है। स्थूल देह पांचभौतिक होता है। वह जल, ओषधि, वनस्पति और आकाश का समूह है। इन सबका संहात स्वरूप अन्नमय देह है। कहना चाहिये अन्न, जल और आकाश द्वारा ही यह स्थूल देह निर्मित है। वनस्पति कहते हैं, जो फल पकने पर पेड़ सूख जाय। जैसे जौ, गेहूँ, चना, मटर आदि-आदि। वनस्पति बड़े वृक्षों को कहते हैं पीपर, पाकर, गूलर, आम, जामुन आदि। ये दोनो ही अन्न के अन्तर्गत आ गये, जो खाये जायँ उन सबकी अन्न संज्ञा है। जो पीया जाय वह पानी है, जिसमें रहा जाय वह पोल–रिक्त स्थान–आकाश है। अन्न, पान, अवकाश से निर्मित यह स्थूल देह है। अतः जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा ये ही सब मिलकर स्थूल पदार्थों की पंक्ति है। यह वर्णन आधिभौतिक दृष्टि से हुआ। अर्थात् यह जड़ पदार्थों की पंक्ति है। अब तीन, अधि+आत्म=अध्यात्म शरीर के भीतर स्थित पंक्तियों को बतावेंगे। उनमें पहिली है

प्राणपंक्ति। एक ही प्राण के पाँच भेद हैं। जैसे (१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान और (५) व्यान। जो कंठ से नीचे हृदय प्रदेश में रहता है वह प्राण है। जो नाभि से नीचे गुदा स्थान में रहता है वह अपान है। जो नाभि और हृदय के बीच मे नाभि में रहता है समान है, जो कण्ठ से ऊपर तक विचरण करके कण्ठ प्रदेश में रहता है वह उदान है और जो समस्त शरीर मे व्याप्त रहता है वह व्यान है। इन पाँचो की प्राणपंक्ति संज्ञा है। प्राणरूप मे वे परब्रह्म ही प्राण अपान रूप से शरीर के भीतर रहकर चतुर्विध अन्न का परिपाक करते हैं, अतः इस पचक द्वारा प्राणरूप परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने कहा—"अध्यात्म पंक्ति मे से दूसरी करण पंक्ति को समझाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन! करण इन्द्रियों का नाम है। इन्द्रि एक ही है। वही जब बाह्य कार्य करती हैं, बाह्यकरण कहाती हैं। भीतर कार्य करती हैं अन्तःकरण कहाती हैं। चक्षु, श्रोत, मन, वाक् और त्वचा इन पाँचों की करण पंक्ति है। इसमें कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरण दोनों में ही भीतर बाहर की इन्द्रियों का समावेश हो गया। वाणी कहने से कर्मेन्द्रियाँ, चक्षु, श्रोत और त्वचा कहने से ज्ञानेन्द्रियाँ और मन कहने से अन्तःकरण चतुष्टय समझना चाहिये। यह ब्रह्म की करणपक्ति है। इन्द्रियों में भगवान् ने अपने को मन बताया है। करणं कारणं कर्ता। ये भी भगवान् के नाम हैं। देह के भीतर रहकर इन्हीं के द्वारा कार्य सम्पन्न होते है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी अध्यात्म की तीसरी पंक्ति और दोनों की छठी पंक्ति जो धातु पंक्ति है उसका वर्णन कीजिये।"

सूतजी ने कहा—"चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा इन

पाँचो की धातुपंक्ति संज्ञा है। वैसे रस, रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र सात धातुयें वतायी है। चर्म और नस नाड़ी का समावेश धातु मे नहीं किया गया है। किन्तु यहाँ देह के भीतर की सभी की धातु सज्ञा कही गयी है और रस, रक्त, मेद, वीर्य सबको तीनो के ही अन्तर्गत मानकर पांचों की धातु पंक्ति संज्ञा दी गयी है। इनमे सुषुम्ना नाड़ी है वही ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! ये ६ पंचक पंक्तियों वतायी तो सही। इनको आपने अधिभूत और अध्यात्म संज्ञा भी दी। किन्तु हमारा समझ मे यह वात नहीं आई कि इन छैः में अन्तर क्या है। स्थूल, सूक्ष्म दोनों ही पंचकों में हैं। पहिले पंचक पृथ्वी को छोड़कर अन्तरिक्ष, स्वर्ग, दिशा तथा उपदिशा दिखायी नहीं देतीं इन्हें स्थूल कैसे मानें। जिनको अध्यात्म शरीर के भीतर वताया है, उनमे पंच प्राण तो सूक्ष्म हैं, त्वचा, चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी ये तो स्थूल हैं, दीखती हैं इन्हे भीतर की सूक्ष्म कैसे कहा ?"

सूतजी बोले—"भगवन् ! ऋषि ने इन्हे संज्ञा दे दी है, यह तो उपलक्षण मात्र है। इन सब पंक्तियो के पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से संबंधित हैं। इन सबका एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसे स्वय बुद्धिपूर्वक जान लेना चाहिये। जैसे प्रथम पंक्ति मे पृथ्वी, अन्तरिक्ष,स्वर्ग, दिशा और उपदिशाओं को गिनाया है। तो अन्तरिक्ष या स्वर्ग मे तो प्राण ही जायँगे। उन लोकों का प्राणों से घनिष्ट सम्बन्ध है। पहिली पक्ति में पृथ्वी गिनायी है, तीसरी मे जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश को गिनाया है, तो ओषधि और वनस्पति तो पृथ्वी पर ही उत्पन्न होती हैं, पृथ्वी का ही रूप हैं। दूसरा पंक्ति मे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों को गिनाया है। पाँचवीं करणपंक्ति मे चक्षु, श्रोत, मन, वाणी और

त्वचा को गिनाया है, तो ये भी परस्पर में सहायक हैं इन्द्रियाँ बिना प्रकाश के, बिना सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु के कुछ कर ही नहीं सकतीं। इस प्रकार इन सबका परस्पर में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिये ऋषि ने अपनी कल्पना द्वारा इन सब पंक्तियों का विभाग कर दिया। ये परस्पर में आध्यात्मिक पंक्तियाँ बाह्य को और बाह्य पंक्तियाँ अध्यात्म को पूर्ण करती हैं। परस्पर एक दूसरे की पूरक हैं। इनके ज्ञान से लौकिक और पारलौकिक, स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार की उन्नतियाँ हो सकती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह विषय यथार्थ रूप में समझ में आया नहीं, अस्तु ऋषियों ने उपयुक्त ही कल्पना की होगी। अब आप हमें फिर से ओंकार की ही महिमा सुनाइये।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! तैत्तिरीय उपनिषद् के अष्टम अनुवाक में ओंकार की ही महिमा का वर्णन किया गया है। उसी को अब आपको मैं संक्षेप में सुनाऊँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

करन पंक्ति अब कहूँ चक्षु, मन, श्रोत्र वाक् त्वच।
आत्म पंक्ति है मांस, चर्म, नाड़ी, हड्डी, मज्ज॥
वैदिक ऋषि ने करी कल्पना पांक्त कहावें।
पूर्ण परस्पर करें उभय मिलि काम चलावें॥
प्रथम पंक्ति चौथी मिलै, द्वितीय पाँचवीं तें मिलहिं।
तृतीय षष्ठि तें मिलति है, काज सकल जग के चलहिं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का सप्तम अनुवाक

ओम् अक्षर की महिमा

[६२]

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदँ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओँ शोमिति । शस्त्राणि शँसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमितिब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥❀

(तै० उ० ८ अनु०)

छप्पय

ओम् ब्रह्म को नाम ओम् ही प्रणव कहावै ।
सर्वरूप है ओम् ओम् अनुकृति में आवै ॥
ओम्, आचार्य सुनाइँ ओम् कहि श्रवन करावैं ।
सामगान कहि ओम् गाइके साम सुनावैं ॥
गीति रहित जो ऋचा है, ओम् शोम् कहि पढ़त हैं ।
ओम् कहें अध्वर्यु पुनि, प्रतिगर मन्त्रनि बदत हैं ॥

❀ ओम् यह ब्रह्म है ओम् यह सर्व जगत् है, ओम यह अनुकृति है । अजी सुनाइये जब ऐसा छात्र कहता है तब आचार्य ओम (हाँ) कहकर अनुमोदन करता है । ओम् कहकर सामवेदी साम गान करते हैं,

समस्त वेदों में पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन तथा जितने भी वैदिक ग्रन्थ हैं, सबमें ओंकार की ही महिमा भरी पड़ी है। ओम् अक्षर इतना व्याप्त है, कि यह सभी कार्यों में प्रचलित होता है। ओम् प्रणव का तो पर्याय है ही, यह और भी अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। ओम् का अर्थ है जो रक्षा करे (अवति=रक्षति-इति ओम्) इस ओम् में समस्त विश्वब्रह्माण्ड, ज्ञान, उपासना तथा कर्म का समावेश हो जाता है। इसमें अकार, उकार और मकार तीन हैं। अकार करके विष्णु समझना चाहिये, उकार से महेश्वर और मकार से ब्रह्माजी का बोध होना चाहिये। ये तीनों पृथक नहीं हैं। जैसे ढाक (पलाश) की एक डाली में तीन पत्ते होते हैं, एक ही डाली जैसे ढाक के तीनों पत्तों को धारण करती है वैसे ही अकेला प्रणव ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों को धारण करता है, तीनों का वाचक है। अकार ऋग्वेद है, उकार सामवेद है और मकार यजुर्वेद है। ओंकार शब्द और अथ शब्द ये दो शब्द सर्वप्रथम ब्रह्माजी के कण्ठ को भेदन करके उत्पन्न हुए, इसलिये इन दोनों शब्दों को माङ्गलिक बताया गया है। समस्त शुभ कार्यों के पूर्व इनका उच्चारण करना चाहिये। इसलिये समस्त वेद वेदान्तों की ऋषि, मुनि, आचार्य, योगी, तपस्वी तथा सिद्धों की ओंकार में निष्ठा होती है। वेद ओंकार से ही आरम्भ होते हैं और ओंकार में ही उसका पर्यवसान होता है। समस्त वाङमय प्रणव के ही अन्तर्गत है, अतः प्रणव का ही अभ्यास करना

ओम् ओम कहकर शास्त्र-मन्त्रों-को पढ़ते हैं। अध्वर्यु ओम् कहकर प्रतिगर मन्त्रों को पढ़ता है, ओम् कहकर ब्रह्मा अनुमति देता है। ओम् कहकर अग्निहोत्र की आज्ञा देता है। पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण ओम् का उच्चारण करके कहता है मैं वेद को प्राप्त करूँ। तो वह वेदों को प्राप्त कर लेता है।

चाहिये। इस प्रकार प्रणव ब्रह्मस्वरूप है। प्रणव ही यह दृश्यमान जगत् है। चराचर जगत् ओम के ही अन्तर्गत है।

'ओम्' अनुमोदन या अनुकृति अर्थ मे भी आता है, जैसे हमने किसी से प्रार्थना की "आप हमारा यह काम कर देंगे?" उन्होने कह दिया—'ओम्' हाँ कर देंगे। हुङ्कार देने मे भा 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे अमुक देश में अमुक राजा हुआ। तो श्रोता ने कह दिया—'ओम्' अर्थात् अच्छा। इस प्रकार ओम् शब्द ब्रह्म के अर्थ मे, जगत् के अर्थ में, स्वीकृति के अर्थ मे हाँ, अच्छा, ठीक है, इस अर्थ मे तथा मगल कल्याण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। स्वीकृति का अनुमोदन का यह सांकेतिक अर्थ है। इसलिये 'ओम्' शब्द सभी अक्षरो मे सर्वश्रेष्ठ है। यज्ञों में ब्रह्मा, उद्गाता होता और अध्वर्यु ये चार प्रधान याज्ञिक ऋत्विक होते हैं। उद्गाता सामवेद का गान करता है। अध्वर्यु यजुर्वेद का गान करता है। होता गीतिरहित ऋग्वेद की ऋचाओं का पाठ करता है। ये यज्ञीय सर्व कार्य ब्रह्मा की अनुमति से होते हैं। ऋत्विक् या यजमान यज्ञ के किसी कार्य के लिये ब्रह्मा से पूछते हैं, क्या इस कार्य को करें? तो ब्रह्मा 'ओम्' कहकर उस कार्य को करने की अनुमति देता है। इस प्रकार यजमान, ऋत्विज् आदि 'ओम्' कहकर पूछते हैं, ब्रह्मा 'ओम्' कहकर अनुमति देता है। इसी प्रकार जब छात्रगण अपने आचार्यों के समीप वेदाध्ययन के निमित्त जाता है, तो हाथ जोडकर पहिले ओंकार का उच्चारण करके उनसे पढ़ने की अनुमति माँगता है, तो आचार्यगण 'ओम्' कहकर ही उसकी बात का अनुमोदन करते हैं। कह देते हैं—'ओम्' अर्थात् 'अच्छी बात है तुम वेदों का अध्ययन करो।' इस प्रकार यह 'ओम्' बहु अर्थ—विस्तृत अर्थ—का वाची है, इसीलिये यह अक्षरों मे सर्वश्रेष्ठ है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आपने मुझसे 'ओम्' अक्षर का महिमा कहने को कहा। तो ओंकार की महिमा ता इतनी है कि, मेरे तो एक मुख है उस एक मुख में एक ही जिह्वा है। भगवान् सकर्पणावतार शेषजी के तो सहस्र मुख हैं और प्रत्येक मुख मे दो दो जिह्वायें हैं। वे अपनी दो सहस्र जिह्वाओं से सृष्टि के आदि से सृष्टि के महाप्रलय पर्यन्त ओंकार का महिमा का निरन्तर–अहर्निशि–गान करते रहे तो भी पार नहीं पा सकते। अत ओंकार की समग्र महिमा का वर्णन असम्भव है। तथापि औपनिषद् ऋषि ने जो कुछ कहा है, उसका अनुवाद मात्र मैं यहाँ किये देता हूँ।"

'ओम' यह ब्रह्म का नाम है। नाम क्या है साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप ही है, क्योंकि नाम और नामी मे कोई भेद नहीं होता, जो नामी है उसी का वह नाम है। अत ब्रह्म का वाचक 'ओम्' है। यह जो दृश्यमान् जड चेतन्यात्मक चराचर जगत् है, वह भी सब 'ओम्' ही है, प्रणव के अन्तर्गत ही है।

'ओम्' यह अनुकृति भी है। अनुमोदन मे भी 'ओम्' का व्यवहार होता है। जैसे यज्ञादि कर्मों मे यजमान और पुरोहित (ऋत्विज) प्रधान होते हैं। एक यज्ञादि शुभ कर्म कराने वाला होता है, पुरोहित उन कर्मों को करता है। यज्ञ में यजमान् आचार्य से पहिले चार शब्द बोलता है (ओश्रावय) जी, सुनाओ। इसमे सर्वप्रथम यजमान ने ओं का ही प्रयोग किया। इसका अनुमोदन करते हुए आचार्य कहते हैं (आश्रावयन्ति) 'ओम्' अच्छी बात है हम अब तुम्हें उपदेश सुनाते हैं। इसमें प्रार्थना करने वाले और उस प्रार्थना का अनुमोदन करने वाले–स्वीकृति प्रदान करने वाले– दोनो ने ही 'ओम्' कहा। अर्थात् प्रार्थना मे भी ओम् और स्वीकृति में भी ओम्। फिर इसी प्रकार साम गायन करने वाले

उद्गाता से भी 'ओम्' कहकर साम गायन करने की प्रार्थना करते हैं, तो वे भी 'ओम्' कहकर स्वीकृति देकर ओंकार का उच्चारण करके तब सामवेद की ऋचाओं का गान करते हैं। इसी प्रकार जब गाति रहित ऋचाओं के उच्चारण की होता से प्रार्थना की जाती है, तो वह ओम् शोम कहकर उन ऋचाओं को पढ़ता है। जब अध्वर्यु ऋत्विज् से उच्चारण करने की प्रार्थना करते हैं, तब वह यजुर्वेदीय अध्वर्यु ऋत्विज् 'ओम्' ऐसा कहकर होता के प्रत्येक उच्चारण के पीछे प्रत्युच्चारण करता है। जब ब्रह्माजी से यज्ञीय कर्म के सम्बन्ध में पूछा जाता है, तब वह 'ओम्' ऐसा कहकर उस कर्म की अनुमति देता है। जब उससे अग्निहोत्र करने की अनुमति माँगते हैं, तब वह 'ओम्' कहकर ही अग्निहोत्र करने की अनुमति—आज्ञा—देता है। इस प्रकार यज्ञ के सभी काम 'ओम' कहकर पूछे जाते हैं और 'ओम्' कहकर ही उन्हें करने की अनुमति भी दी जाती है।

यज्ञ के ही सदृश अध्ययन में भी इसी प्रकार 'ओम्' का प्रयोग होता है। जैसे विद्यार्थी पढ़ने के निमित्त गुरु के समीप गये। दण्डवत् प्रणाम करके गुरु के समीप बैठ गये। अब पढ़ने को उद्यत ब्राह्मण पहिले आचार्य के चरणों में 'ओम्' का उच्चारण करके उनसे प्रार्थना करेगा—मैं ब्रह्म को—वेद को—प्राप्त करूँ? अर्थात् वेदाध्ययन आरम्भ करूँ? तब आचार्य 'ओम्' कहकर उसे वेदाध्ययन की अनुमति प्रदान करते हैं। इस प्रकार श्रद्धालु छात्र 'ओम्' कहकर आचार्य की अनुमति से जो वेद का अध्ययन करता है, उसे अवश्य ही वेद की प्राप्ति हो जाती है, वह वेदज्ञ बन जाता है। इस प्रकार यज्ञ करने कराने में, दान देने लेने में, अध्ययन करने कराने में जो 'ओम्' का उच्चारण करते हैं, वे मङ्गल के भागी होते हैं, उनका कल्याण निश्चय ही हो जाता

है। यह मैंने बहुत ही संक्षेप में 'ओम' की महिमा कही। अब आप क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! अब हमें श्रौत और स्मार्त कर्मों की उपादेयता बतावें। अध्ययन और अध्यापन करने वालों को इन कर्मों को कैसे करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! तैत्तिरीय उपनिषद् के नवमें अनुवाक में इसी का वर्णन है, इसे मैं आपको आगे सुनाऊँगा।"

छप्पय

मेक्षा अनुमति देइँ ओम् कहि चौथे ऋत्विज।
अग्निहोत्र में ओम् बोलि देवें पुनि अनुमति॥
उद्यत होवें विप्र, वेद पढ़िवे को जबई।
प्रथम ओम् उच्चारि पढ़ें वेदनिकूँ तबई॥
ओंकार उच्चारिकें, छात्र विनय प्रस्तुत करहिं।
देहिं बुद्धि वेदनि पढ़ें, ते वेदनि निश्चय पढ़हिं॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का अष्टम अनुवाक समाप्त

स्वाध्याय प्रवचन और सदाचार

[६३]

ऋत च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥६॥

(तै० उ० ६ मनु०)

छप्पय

प्रथम परम स्वाध्याय प्रवचननि नहीं भुलाओ।
सदाचार अरु सत्य तपस्या दम सँग लाओ॥
अग्निचयन, शम और अग्निहोत्र हूँ न विसारो।
प्रवचन अरु स्वाध्याय सबनिमें रहै सहारो॥
करो अतिथि सत्कार नित, पुरुषोचित करमनि करो।
साथ साथ स्वाध्याय अरु, प्रवचन कबहुँ न बीसरो॥

ऋत के साथ साथ स्वाध्याय प्रवचन भी किया करो। सत्य पालन करो स्वाध्याय प्रवचन के सहित। तपश्चर्या करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन

मानव शरीर केवल आहार निद्रा तथा विषय सुखों के उपभोग के लिये नहीं है। जो प्राणधारी जीव हैं भूख तो सभी को लगती है, भूख की निवृत्ति के लिये जान में अनजान में प्रयत्न सभी करते है। शरीर मे निरन्तर जीवन की क्रियायें होती रहती हैं, उनसे इन्द्रियों मे, शरीर के अग उपाङ्गों में थकान सभी को आती हैं, उस थकान को मिटाने के लिये विश्राम की-निद्रा की-आवश्यकता सभी को होती हैं। जीव जिस स्थान से उत्पन्न हुआ है जिस मिथुन प्रकिया से पैदा हुआ है उसके प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। आत्मा नित्य है, अमर है, अविनाशी है। उसी के अंश से प्राणियों का जन्म है अतः अपने नाश का भय प्राणिमात्र को होता है। अतः आहार, निद्रा, भय और मैथुन ये स्वाभाविक हैं। इनके लिये प्राणियों को अपनी ओर से प्रयत्न नहीं करना पडता, इन्हें तो प्रकृति स्वतः करा लेती है। करने की इच्छा न भी हो तो

न छोडो। इन्द्रियों का दमन करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे प्रमाद न हो। मन का निग्रह करो साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में भी मन को लगाये रखो। अग्निचयन करो स्वाध्याय प्रवचन को न छोडो। अग्निहोत्र करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करो। अतिथि सत्कार अवश्य करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन मे ढिलाई न हो। मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करो परन्तु स्वाध्याय प्रवचन की ओर से मुख न मोडो। गर्भाधानादि प्रजा हेतु करो किन्तु स्वाध्याय प्रवचन से उदासीन न हो। कुटुम्ब वृद्धि करो स्वाध्याय प्रवचन के साथ ही। शास्त्र विधि से ऋतुकाल मे स्वभार्या मे गमन करो, स्वाध्याय प्रवचन भी करो। रथीतर पुत्र सत्यवाचा तप को ही श्रेष्ठ बताते हैं पौरुशिष्ट सुत तपोनित्य तप पर ही बल देते हैं, मौद्गल्य नाक का मत है स्वाध्याय प्रवचन ही सर्वश्रेष्ठ है, वही तप है, वही तप है। सबसे बडा तप स्वाध्याय प्रवचन ही है।

भी प्राणियों को ये काम अवश होकर-विवश बनकर-करने ही पड़ते हैं। ये साधन नहीं स्वाभाविक कर्म हैं। साधन उसे कहते हैं जो मोक्ष के लिये-संसार बन्धनों से छूटने के लिये-शास्त्रीय विधि से कर्म किये जायँ। उसका दूसरा नाम यज्ञ भी है। यज्ञ के अतिरिक्त और जितने भी कर्म हैं वे सब कर्म बन्धन के हेतु हैं, अतः सभी को यज्ञ कर्म करने का प्रयत्न करना चाहिये। यज्ञ शब्द का बड़ा विस्तृत अर्थ है। यज्ञ शब्द यज धातु से बनता है-जो देव पूजा, संगतिकरण और दान आदि अर्थों में प्रयुक्त होती है। श्रीमद्भगवत्गीता के चतुर्थ अध्याय में देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, संयमयज्ञ, विषयेन्द्रिययज्ञ, प्राणेन्द्रिययज्ञ, आत्मसंयमयज्ञ, द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय ज्ञानयज्ञ, प्राणापानयज्ञ, अपान प्राणयज्ञ, प्राणायामयज्ञ और नियताहारपूर्वक प्राणयज्ञादि बहुत से यज्ञ गिनाये हैं। साधारणतया द्विजातियों के लिये ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, नृयज्ञ तथा पितृयज्ञ इन पाँच यज्ञों का नित्य करने का विधान है। ये नित्य नियमित रूप से करने चाहिये। देवयज्ञ तो नित्य देवताओं के लिये अग्नि में आहुति देने को कहते हैं जैसे बलिवैश्व देवयज्ञ है। ऋषियज्ञ नित्य स्वाध्याय को कहते हैं, भूतयज्ञ का अर्थ है अन्न को यथा योग्य सभी प्राणियों में बाँटकर खाना चाहिये। केवल अपने ही पेट को भरते रहने का प्रयत्न न करना चाहिये। गौ, कौआ, कुत्ता तथा चींटी आदि सबका भाग निकालकर तब भोजन करना चाहिये। नृयज्ञ यह है कि जो भी अतिथि-भोजन समय में अपने द्वार पर आ जाय उसे भगवत्रूप से मानकर श्रद्धा से भोजन कराना चाहिये, पितृ यज्ञ पितरों के निमित्त अन्न-जल देने को पितृयज्ञ कहते हैं।

इन नित्य यज्ञों के अतिरिक्त कर्मयज्ञ, तपोयज्ञ, जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ ये भी पाँच बताये हैं। कर्मयज्ञ दो

प्रकार का है, सकामयज्ञ और निष्कामयज्ञ। सकामयज्ञ तो जैसे स्वर्गकाम की कामना से अश्वमेध यज्ञ करे। स्वर्ग की कामना से अश्वमेध यज्ञ करना सकामयज्ञ है। निष्कामयज्ञ ब्रह्मभाव से बिना किसी कामना के यज्ञ दान और तपस्यादि कर्मों को करते रहना, यह निष्काम यज्ञ है। तपयज्ञ में भी यदि कामनापूर्वक तप है, तो वह स्वर्ग को देने वाला है, निष्कामभाव से किया जाय तो मुक्तिदाता है। जपयज्ञ, ध्यानयज्ञ निष्कामभाव से किये जायँ तो वे ज्ञानप्राप्ति में कारण होते हैं और ज्ञान से मुक्ति होती है। ज्ञान यज्ञ तो मुक्ति का प्रत्यक्ष कारण ही है।

वर्णाश्रमियों के लिये चार यज्ञ मुख्य बताये हैं। ब्राह्मणों के लिये स्वाध्याययज्ञ जपयज्ञ मुख्य है। ब्राह्मण चाहे और यज्ञों को न भी करे, केवल मन्त्रों का सविधि जप ही करता रहे, तो वह मुक्ति का अधिकारी हो जायगा। क्षत्रिय के लिये आरम्भ यज्ञ बताया है। लोक कल्याण के निमित्त जिस कार्य को आरम्भ कर दे उसे पूरे प्रयत्न के साथ पूर्ण करे। अधूरा न छोड़े। वैश्य के लिये हविष्ययज्ञ मुख्य है। उसके पास कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य से धन आता है, अतः वह घृत, अन्नादि हविष्य पदार्थों से हवन किया करे। शूद्र के लिये परिचारयज्ञ अर्थात् द्विजातियों की परिचर्या-सेवा-रूपी यज्ञ को करता रहे। इसी यज्ञ द्वारा परमात्मा उस पर प्रसन्न हो जायँगे। यह तो वर्णाश्रमियों के यज्ञ हैं। अब चाहे वर्णाश्रमी हो या अवर्णाश्रमी सबके लिये भगवद्भक्ति यज्ञ एक-सा फल देने वाला है। किसी वर्ण का हो, किसी आश्रम का हो, वर्णाश्रमी अवर्णाश्रमी कोई क्यों न हो अनन्यभाव से भगवान् की शरण लेने पर सभी का कल्याण हो सकता है।

उपनिषद् के ऋषि उन ऋषिकुमारों को उपदेश दे रहे हैं, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन केवल धर्माचरण में अर्पित कर

दिया है। उनमे सकाम धर्म का आचरण करने वाले पुण्य लोकों का इच्छा वाले और निष्काम धर्म का आचरण करने वाले मोक्षार्थी दो प्रकार के होते हैं। जो सकामी हैं उनका तो भाव यह रहता है, कि स्वाध्याय समाप्त करके यज्ञ यागादि में ही समय व्यतीत करना चाहिये। कुछ का मत है स्वाध्याय समाप्त करके तप, सत्य आदि सद्गुणों का आचरण ही करके जीवन व्यतीत करना चाहिये। किन्तु मुद्गलगोत्रीय नाक मुनि का सिद्धान्त है, जीवनभर चाहे तुम और जो भी धर्माचरण करो, स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग मत करो। वे यशस्वी, तपस्वी, मनस्वी महापुरुष धन्य हैं, जिनका समस्त जीवन स्वाध्याय तथा प्रवचन में ही व्यतीत होता है। ये लौकिक, राजनैतिक, सामाजिक प्रश्न ऐसे हैं, इनका कहीं अन्त नहीं। नित्य नई ही नई गुत्थियाँ पड़ती जाती हैं, इन ही में जो उलझ जाते हैं, वे स्वाध्याय प्रवचन से वञ्चित हो जाते हैं। अतः निरन्तर केवल स्वाध्याय प्रवचन में ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाय तो इससे बढ़कर तो कोई जीवन ही नहीं। यदि ऐसा संभव न हो, और धार्मिक कार्य करने ही पड़ें तो भी स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग नहीं करना चाहिये। यही उपनिषद् के इन ऋषि के उपदेश का भाव होता है।

सूतजी ने कहा—"मुनियो! आपने जो सदाचार और स्वाध्याय प्रवचन के सम्बन्ध में प्रश्न किया, उसमे ऋषियों में मतभेद है। कोई ऋषि तो कहते हैं—सत्य से बढ़कर कोई परमधर्म नहीं है। एक सत्याचरण से सभी धर्मों का पालन हो जाता है। कोई कहते हैं—ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो तपस्या से प्राप्त न की जा सके। अतः तप ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, किन्तु मुद्गल गोत्रीय नाक मुनि का कथन है, स्वाध्याय प्रवचन में सब कुछ आ जाता है, अतः जीवन पर्यन्त-कभी भी—स्वाध्याय प्रवचन को नहीं छोड़ना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तो क्या अन्य शास्त्रों में बताये धर्मों का आचरण नहीं करना चाहिये? क्या सदा सर्वदा स्वाध्याय प्रवचन में लगे रहना चाहिये?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जिनका आठों प्रहरों का काल केवल स्वाध्याय-मन्त्र, जप, वेदपाठादि-में प्रवचन-शास्त्रों के अर्थ प्रकाशन में-व्यतीत हो, उनसे बढ़कर भाग्यशाली कौन-होगा। किन्तु ऐसा होना कठिन पड़ता है, अतः अन्य धर्मों का भी आचरण करे, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी परित्याग न करे, इन्हें भी साथ-साथ करता ही रहे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी सत्य-सूनृता वाणी, मन से यथार्थ विचार करना-सदाचार का पालन करना हमें तो यही मुख्य श्रेष्ठ प्रतीत होता है।"

सूतजी ने कहा—"यथार्थ भाषण का-मधुर वाणी और यथार्थ विचार अवश्य करे, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग न करे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! शास्त्रों में कहा है 'सत्यान्नास्ति परोधर्मः', सत्य से बढ़कर कोई श्रेष्ठ धर्म नहीं है, अतः केवल सत्य का ही आचरण किया जाय तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है, सदा सर्वदा सत्य का ही आचरण करे, किन्तु साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी अभ्यास करता रहे। स्वध्याय प्रवचन से सत्य को भी बल मिलता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! तप को ऐसा बताया है कि इससे सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। त्रिदेव सदा तप में ही निरत रहते हैं, जिसने जो भी सिद्धि प्राप्त की है, तपस्या से ही की है, अतः केवल तप का ही सहारा क्यों न लिया जाय?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है, महाराज!

तप

ही तो भूषण है–धन है–इसी से तो ब्राह्मण तपोधन कहलाते हैं। आप सब तपोधन ही हैं, किन्तु तप के साथ आप स्वाध्याय और प्रवचन का परित्याग न करें। प्रवचन स्वाध्याय भी महान् तप है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ ये इन्द्रियाँ ही हैं, ये ही जीव को विषयों में ले जाकर पटक देती हैं, यदि इन्द्रियों के दमन की ही ओर विशेष ध्यान दिया जाय, तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"बहुत अच्छा है महाराज! किन्तु इन्द्रिय दमन के साथ आप स्वाध्याय प्रवचन का परित्याग कर देंगे, तो भटक भी सकते हैं, अतः इन्द्रिय दमन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन को भी चालू रखें।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हत्या की जड़ तो यह मन ही है। बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है। यदि मनोनिग्रह में ही सब समय व्यतीत किया जाय तो कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"क्या कहना है महाराज! मन के मारने पर सब मर जाते हैं। परन्तु मनोनिग्रह करते हुए स्वाध्याय प्रवचन को चालू रखें। इससे शम में सहायता मिलेगी।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! द्विजातियों को गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों का चयन तथा नित्य अग्नि होत्र करना ये परमधर्म हैं। इनमें ही बहुत काल लग जाता है। क्या इन्हें त्याग दे?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, भगवन्! त्यागने को कौन कहता है। जो नित्य अग्निहोत्र का, अग्नि चयन का कर्म कर सकें, वे अवश्य करें, किन्तु स्वाध्याय प्रवचन के लिये अवकाश अवश्य निकाल लें। इससे इन कर्मों में लाभ ही हो होगा।"

शौनकजी ने कहा—"अतिथि सेवा सर्वश्रेष्ठ धर्म है। अतिथि

साक्षात् ब्रह्म का ही रूप होता है, उसी मे सब समय क्यों न लगावें।"

सूतजी ने कहा—"अतिथि सेवा का क्या कहना है, यह तो परमधर्म है, किन्तु इसके साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन में कमी न करें।"

शौनकजी कहा—"सूतजी! मानवमात्र की सेवा में सम्पूर्ण समय लगाया जाय, सबके साथ मनुष्योचित व्यवहार किया जाय, इसे मै सर्वश्रेष्ठ धर्म मानता हूँ।"

सूतजी ने कहा—"आपका मानना सर्वथा उचित ही है, मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन के लिये अवकाश अवश्य निकाल लें। इसके बिना सेवा सम्भव नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हम लोग त्यागी विरागी अप्रजावान हैं, किन्तु जिन पर पितृ ऋण है, उन्हे तो विवाह करना, गर्भाधानादि संस्कार करना कराना, शास्त्रीय आज्ञानुसार ऋतुमती अपनी धर्मपत्नी मे सन्तानोत्पत्ति करना, कुटुम्ब की वृद्धि करना ये आवश्यक धर्म हैं, क्या इनका पालन न करे?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! मनुष्य जन्म से ही देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण इन तीन ऋणों का ऋणी रहता है। अतः यज्ञ द्वारा देव ऋण से, वेदाध्यायन द्वारा ऋषिऋण से तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से अवश्य उऋण हो। विवाह भी करे, ऋतुकालाभिगामी भी हो, गर्भाधान करे, प्रजा उत्पन्न करे, कुटुम्ब की वृद्धि भी करे, किन्तु इन सब धर्मों का पालन करते हुए भी स्वाध्याय प्रवचन में ढिलाई न करे उसे न छोड़े।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप स्वाध्याय प्रवचन पर अत्यधिक बल दे रहे हैं, क्या सभी ऋषियों का यही मत है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! एक मत तो संसार में किसी का न हुआ, न होगा । श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न बातें कहती हैं, स्मृतियों में भी परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होता है और मुनियों की दशा तो यह है, कि वह मुनि, मुनि ही नहीं कहलता जिसका कुछ न कुछ भिन्न मत न हो। सब मुनियों के मत में कुछ न कुछ भेद अवश्य रहता है। सो, इस विषय में भी भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं, एक रथीतर महर्षि हुए हैं उनके पुत्र सत्यवचा हुए। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते थे। सत्य बोलना ही उनका व्रत था। उनका मत है सत्य बोलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये सदा सत्य भाषण ही करना चाहिये।"

एक पुरुशिष्ट नामक ऋषि के पुत्र तपोनित्य हैं। वे सदा सर्वदा तप में ही लगे रहते हैं। उनका मत है, तप ही सबसे श्रेष्ठ है। किन्तु इस प्रसंग के वक्ता मुद्गल गोत्रीय नाक महर्षि का कहना है, कि स्वाध्याय प्रवचन ही सबसे श्रेष्ठ है। यही तप है यही-सब कुछ है। स्वाध्याय प्रवचन से ही सब कुछ हो सकता है। उसी से सर्वगुण अपने आप आ सकते हैं।

शौनकजी ने पूछा -"स्वाध्याय प्रवचन से आपका तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"वेद, पुराण, धार्मिक ग्रन्थों का पठन करना। वैदिक तांत्रिक मन्त्रों का जप करना। वैदिक मन्त्रों की, पुराण और धर्मशास्त्रों की व्याख्या करके लोगों को सुनाना, व्याख्या करके उन्हें प्रकाशित करना, उनका प्रचार-प्रसार करना। लोगों को जो समझने के उत्सुक हों, उन्हें समझाना इन्हीं सब कामों का नाम स्वाध्याय प्रवचन है। जो अहर्निशि इन्हीं कार्यों में संलग्न रहते हैं, उनके समस्त धर्मों का पालन इनके ही द्वारा जाता है। अन्य धर्मों का भी पालन करते हों, करना पड़ता हो, वे उन-उन

धर्मों के पालन के साथ ही साथ स्वाध्याय प्रवचन का भी आश्रय लिये रहे, इनका कभी परित्याग न करें यही मोद्‌गल्य मुनि नाक मुनि का मत है। यह मैंने स्वाध्याय प्रवचन प्रधान प्रकरण आपसे कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! कर्मों का फल कैसे मिलता है ?"

सूतजी ने कहा—"फल भावना के अनुसार मिलता है, तुम जैसी भावना करोगे, वैसा ही फल मिल जायगा।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसी भावना करनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जैसी त्रिशङ्कु मुनि ने की थी।"

शौनकजी ने पूछा—"त्रिशङ्कु मुनि ने कैसी भावना की थी ?"

सूतजी ने कहा—"तपोधन ! तैत्तिरीय उपनिषद् के दशम अनुवाक में त्रिशङ्कु मुनि की भावना का ही वर्णन है। उसे भी मैं आपको सुनाऊँगा। आप देखेंगे, त्रिशङ्कु मुनि की यह भावना कितनी उत्कृष्ट है।"

छप्पय

गर्भाधान हु आदि करो संस्कार शास्त्र विधि।
प्रजन प्रजा की वृद्धि करो जो लौकिक हैं सिधि॥
किन्तु प्रवचन स्वाध्याय कबहुँ किहि विधि न बिसारो।
करो धरम सब काज प्रवचन स्वाध्याय सम्हारो॥
सत्यवचा ऋषि सत्य कूँ, तपोनित्य तप कहत वर।
किन्तु प्रवचन, स्वाध्याय कूँ कहें नाक ऋषि श्रेष्ठतर॥

दोहा

प्रवचन अरु स्वाध्याय ही, परम धरम है एक।
तातैं नित अव्यग्रचित, रान्यो सबनें टेक॥

इति तैत्तिरीय उपनिषद् का नवमाँ अनुवाक

॥ श्रीहरि. ॥

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी द्वारा लिखित अन्य पुस्तकें

१–भागवती कथा (१०८ खण्डो मे)—८७ खण्ड छप चुके है । प्रति खण्ड का मू० १ ६५ पैसे डाकव्यय पृथक ।

२–श्री भागवत चरित—लगभग ९०० पृष्ठ की, सजिल्द — मू० ११ ००

३–सटीक भागवत चरित (दो खण्डों मे)— एक खण्ड का मू० ११ ००

४–बदरीनाथ दर्शन—बदरी यात्रा पर खोजपूर्ण महाग्रन्थ — मू० ५ ००

५–महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ०स० ३५० — मू० ३ ४५

६–मतवाली मीरा—भक्ति का सजीव साकार स्वरूप — मू० २ ५०

७–कृष्ण चरित—पृ० स० लगभग ३५० — मू० २ ५०

८–मुक्तिनाथ दर्शन—मुक्तिनाथ यात्रा का सरस वर्णन — मू० २ ५०

९–गोपालन शिक्षा—गौओं का पालन कैसे करें — मू० २ ५०

१०–श्री चैतन्य चरितावली (पाँच खण्डो म)— प्रथम खण्ड का मू० १ ६०

११–नाम सकीर्तन महिमा—पृष्ठ सख्या ९६ — मू० ० ६८

१२–श्री शुक—श्री शुकदेवजी के जीवन की झाँकी (नाटक) — मू० ० ६५

१३–भागवती कथा की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० — मू० ० ३१

१४–शोक शान्ति—शोक की शान्ति करने वाला रोचक पत्र — मू० ० ३१

१५–मेरे महामना मालवीयजी—उनके सुखद सस्मरण, — मू० ० ३१

१६–भारतीय सस्कृति और शुद्धि—(शास्त्रीय विवेचन) — मू० ० ३१

१७–राघवेन्दु चरित—पृ० स० लगभग १६० — मू० ० ४०

१८–भागवत चरित की बानगी—पृष्ठ सख्या १०० — मू० ० ३१

१९–गोविन्द दामोदर शरणागत स्तोत्र—(छप्पय छन्दों में) — मू० ० २५

२०–भक्तचरितावली प्रथम खड मू० ४ ०० द्वितीय खड — मू० २ ५०

२१–सत्यनारायण की कथा—छप्पय छन्दो सहित — मू० ० ७५

२२–प्रयाग माहात्म्य— मू० ० २० | २५–प्रभुपूजा पद्धति— मू० ० २५

२३–वृन्दावन माहात्म्य—मू० ० २२ | २६–श्री हनुमत् शतक— मू० ० ५०

२४–गाय छप्पय गीता— मू० [illegible] | २७–महावीर हनुमान्— मू० २ ५०

[illegible] झूसी (प्रयाग)